नये संकेत

(ओशो की चर्चाओं से संकलित विचार)

1. मैं किस धर्म का हूं? किसी भी धर्म का नहीं। वस्तुतः धर्म तो है, लेकिन धर्मों का कोई, अस्तित्व ही नहीं है। धर्मों के मिथ्या अस्तित्व ने, धर्म की अभिव्यक्ति को अवरुद्ध कर रखा है। धर्म के आविर्भाव के लिए धर्मों की मृत्यु आवश्यक है। इसीलिए मैं किसी भी धर्म का नहीं हूं। जिसे धर्म का होना है, उसे धर्मों का होने की सुविधा ही नहीं है। धर्मों का आविष्कार निश्चय ही अधर्म का सहयोगी है। इस भांति धर्म के नाम पर अधर्म जीता है, और फलता फूलता है। धर्म के अधर्म को चिंता हो सकती है। धर्मों से प्रसन्नता है। मैं किसी धर्म में नहीं हूं, क्योंकि मैं अधर्म के पक्ष में नहीं हूं। मैंने सुना हैः एक प्रभात की बात है। शैतान अपने शिष्यों सहित किसी व्यक्ति का पीछा कर रहा था। वह व्यक्ति सत्य की खोज में था और इसीलिए शैतान को चिंता होनी स्वाभाविक ही थी। फिर शैतान के शिष्यों ने आकर शैतान को खबर दी कि उस व्यक्ति को सत्य उपलब्ध हो गया है। वे शिष्य बहुत ही घबड़ाए हुए थे। लेकिन शैतान ने उनसे कहाः "अभी चिंता न करो। नगर नगर में जाकर इस बात की खबर कर दो और लोगों को उसके पास इकट्ठा होने दो। कोशिश करो कि जल्दी ही वे शास्त्र बना लें और संगठित हो जावें। फिर चिंताका कोई कारण नहीं है।"

2. मैं और मेरे का सत्य से क्या संबंध? धर्म से क्या संबंध? सत्य, मेरा सत्य कैसे हो सकता है? धर्म, मेरा धर्म कैसे हो सकता है? सत्य, मेरा सत्य नहीं हो सकता है और मेरा सत्य, सत्य नहीं हो सकता है।

3. विचार ज्ञात का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। वह कितनी ही ऊंची उड़ान भरे लेकिन ज्ञात की सीमा को पार करना उसके लिए असंभव है। वह ज्ञात की उत्पत्ति है और ज्ञात की सीमा ही उसका जीवन भी है। वह है अतीत अनुभवों का सारभूत अंश और स्मृति है उसका आवास। फिर स्मृति मृत है। विचार भी अतीत और मृत है। लेकिन सत्य है अज्ञात। और सत्य है जीवन। विचार इसीलिए ही सत्य तक ले जाने में असमर्थ है। अज्ञात में और जीवंत में उसका प्रवेश निषिद्ध है। मछलियां तो सागर के बाहर थोड़ी देर जी भी लेती हैं लेकिन विचार मृत स्मृति और ज्ञात के घेरे के बाहर एक भी कदम नहीं रख सकता है।

4. अस्तित्व के अनुभव के लिए अनस्तित्व का साक्षात आवश्यक है। उससे घिर कर ही अस्तित्व जाना, पहचाना और जिया जा सकता है। चारों ओर अनस्तित्व का सागर हो तो ही स्वयं के बिंदु पर अस्तित्व की प्रगाढ़ अनुभूति हो सकती है। इसीलिए जो सत्य को जानने के लिए प्यासे हैं, उन्हें शून्य में जाना पड़ेगा, और जो जीवन को उसकी पूर्णता में जीने के अभीप्सु हैं, उन्हें मृत्यु को वरण करना होगा। मैं एक संध्या का स्मरण करता हूं। एक छोटे से गांव में था। संध्या हुई तो मिट्टी का दीया जलाया गया था। पर अभी अंधेरा नहीं हुआ था, इसीलिए दीये में कोई प्रकाश नहीं मालूम पड़ता था। यदि दीये में कोई चेतना होती तो वह पाता कि उसमें तो कोई प्रकाश ही नहीं है। भरी दोपहर के सूरज के समक्ष तो उसे स्वयं के ज्योतिर्मय होने की स्मृति भी नहीं आ सकती थी। किंतु फिर जैसे जैसे अंधेरा बढ़ने लगा, वैसे-वैसे उस दीये में प्रकाश आने लगा। उसकी ज्योति क्रमशः घनी होती जा रही थी। रात्रि का अंधकार बढ़ रहा था तो उसकी ज्योति भी सजग हो रही थी। अमावस की रात्रि थीŸ वह। धीरे-धीरे अंधकार घना से घना हो गया और मैं उस दीये की लौ में आते प्राणों को देखता रहा। अब यदि वह दीया स्वयं को जान सकता तो पाता कि वह तो सूरज ही है। फिर एक बात और विचार में आई थी। दीया तो वही थी। ज्योति भी वही थी। अंतर तो दीये में किंचित भी न हुआ था। अंतर हुआ था अंधकार में।

लेकिन घने होते अंधकार की पृष्ठभूमि में दीये की ज्योति खूब स्पष्ट होकर प्रकट हो गई थी। अंधकार ने दीये को पूर्णरूप से अभिव्यक्त होने में भी सत्य है। अस्तित्व के घिरे रहने पर उसका बोध नहीं होता। चित्त जब सब भांति शून्य होता है, तभी आत्मा की पूर्ण ज्योति प्रकट होती है। अनस्तित्व के द्वार से ही अस्तित्व को जाना जाता है।

5. धन की, यश की, त्याग की, ज्ञान की दौड़ मनुष्य को कहां ले जाती है? दौड़ने वाला महत्वाकांक्षी चित्त मनुष्य को कहां ले जाता है? इस संबंध में सोचता हूं तो एक स्वप्न की याद आ जाती है। उस स्वप्न को मैं कभी नहीं भूल पाता हूं। जब स्वप्न देखता था तो उसे एक बार नहीं, बहुत बार देखा भी है। स्वप्न में एक सीढ़ी दिखाई पड़ती थी। उसका ऊपर का छोर दूर बादलों में खोया रहता था। ऐसा लगता था कि जैसे वह सीढ़ी आकाश में ही ले जाने वाली हो। फिर आकाश में पहुंचने की अदम्य आकांक्षा से उस सीढ़ी पर चढ़ना शुरू करता था। उसके एक एक डंडे को पार करना भी बड़ा कठिन होता था। सांस फूल जाती थी और माथे से पसीना गिरने लगता था। फिर भी आकाश में पहुंचने की आकांक्षा के बल चढ़ता जाता था। धीरे-धीरे सांसें घुटने लगती थीं और हृदय जवाब देने लगता था। लेकिन तभी ज्ञात होता था कि मैं अकेला ही नहीं चढ़ रहा हूं और मेरी सीढी ही अकेली सीढी नहीं है। मेरी जैसी अनंत सीढ़ियां हैं और अनंत लोग उन पर चढ़े जा रहे हैं। उन्हें चढ़ते देख कर प्रतिस्पर्धा भी जाग उठती थी और मैं और भी गति से चढ़ने लगता था। प्राणों की पूरी शक्ति लगा कर चढ़ने दौड़ होती थी और फिर स्वप्न का अंत सदा ही एक ही जैसा होता था। अंततः एक ऐसा सोपान आता था कि उसके आगे कोई सोपान ही नहीं था! उस दीये में प्रकाश आने लगा। उसकी ज्योति क्रमशः घनी होती जा रही थी। रात्रि का अंधकार बढ़ रहा था तो उसकी ज्योति भी सजग हो रही थी। अमावस की रात्रि थी वह। धीरे-धीरे अंधकार घना से घना हो गया और मैं उस दीये की लौ में आते प्राणों को देखता रहा। अब यदि वह दिया स्वयं को जान सकता तो पाता कि वह तो सूरज ही है। फिर एक बात और विचार में आई थी। दीया तो वही था। ज्योति भी वही थी। अंतर तो दीये में किंचित भी न हुआ था। अंतर हुआ थाŸ अंधकार में। लेकिन घने होते अंधकार की पृष्ठभूमि में दीये की ज्योति खूब स्पष्ट होकर प्रकट हो गई थी। अंधकार ने दीये को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होने में सहायता दी थी। ऐसा ही स्वयं की सत्ता के संबंध में भी सत्य है। अस्तित्व के घिरे रहने पर उसका बोध नहीं होता। चित्त जब सब भांति शून्य होता है, तभी आत्मा की पूर्ण ज्योति प्रकट होती है। अनस्तित्व के द्वार से ही अस्तित्व को जाना जाता है।

5. धन की, यश की, त्याग की, ज्ञान की दौड़ मनुष्य को कहां ले जाती है? दौड़ने वाला महत्वाकांक्षी चित्त मनुष्य को कहां ले जाता है? इस संबंध में सोचता हूं तो एक स्वप्न की याद आ जाती है। उस स्वप्न को मैं कभी नहीं भूल पाता हूं। जब स्वप्न देखता था तो उसे एक बार नहीं, बहुत बार देखा भी है। स्वप्न में एक सीढ़ी दिखाई पड़ती थी। उसका ऊपर का छोर दूर बादलों में खोया रहता था। ऐसा लगता था कि जैसे वह सीढ़ी आकाश में ही ले जानेवाली हो। फिर आकाश में पहुंचने की अदम्य आकांक्षा से उस सीढ़ी पर चढ़ना शुरू करता था। उसके एक डंडे को पार करना भी बड़ा कठिन होता था। श्वास फूल जाती थी और माथे से पसीना गिरने लगता था। फिर भी आकाश में पहुंचने की आकांक्षा के बल चढ़ता जाता था। धीरे-धीरे श्वासें घुटने लगती थीं और हृदय जवाब देने लगता था। लेकिन तभी ज्ञात होता था कि मैं अकेला ही नहीं चढ़ रहा हूं और मेरी सीढ़ी ही अकेली सीढ़ी नहीं है। मेरी ही जैसी अनंत सीढ़ियां हैं और अनंत लोग उनपर चढ़े जा रहे हैं। उन्हें चढ़ते देख कर प्रतिस्पर्धा भी जाग उठती थी और मैं और भी गति से चढ़ने लगता था। प्राणों की पूरी शक्ति लगा कर चढ़ने की दौड़ होती थी। प्राणों की पूरी शक्ति लगा कर चढ़ने की दौड़ होती थी और फिर स्वप्न का अंत सदा ही एक

ही जैसा होता था। अंततः एक ऐसा सोपान आता था कि उसके आगे कोई सोपान ही नहीं था! और पीछे देखने पर ज्ञात होता था कि वहां तो कोई सीढ़ी ही नहीं है? उस ऊंचाई से गिरना शुरू होता जो कि चढ़ने के कष्ट से भी बदतर था। लगता कि मृत्यु ही हो गई है और वह मृत्यु थी ही। उस मृत्यु के आघात से ही नींद टूट जाती थी। उस स्वप्न ने एक बड़े सत्य के दर्शन मुझे कराए। फिर तो हमारा तथाकथित जीवन ही पूरा का पूरा उस स्वप्न का विस्तार मालूम होने लगा। क्या स्वप्न में मनुष्य की सभी दौड़ों के अंत में मृत्यु नहीं आ जाती है? और मृत्यु का क्या अर्थ है? क्या यही अर्थ नहीं है कि सीढ़ी पर अब आगे कोई सोपान नहीं है। मृत्यु दौड़ का अंत है। मृत्यु भविष्य की समाप्ति है। मृत्यु और संभावनाओं का असंभव हो जाना है। दौड़ने वाला चित्त ऊंचाई पर ले जाता है, मृत्यु उस ऊंचाई से गिरने के अतिरिक्त और क्या है? जहां दौड़ है, वहां मृत्यु है। फिर वह दौड़ चाहे धन की हो, चाहे धर्म की, चाहे भोग की हो, चाहे त्याग की। और जहां दौड़ है, वहां स्वप्न है। सत्य है वहां, जहां दौड़ नहीं है--दौड़ने वाला मन नहीं है। जीवन भी वही है, ऐसा जीवन जिसकी कि कोई मृत्यु नहीं है।

6. शब्द, शास्त्र, संप्रदाय और सिद्धांत मनुष्य की आत्मा को तट के बांध रखना चाहते हैं। तट है दासता। उस दासता की सुरक्षा में जो बंध जाता है, वह अनंत सागर की स्वतंत्रता से वंचित हो जाता है। सागर की यात्रा के लिए तटों से तो मुक्त होना ही होगा। स्वतंत्रता के लिए बंधन तो तोड़ने ही पड़ते हैं। मछलियों को पकड़ने के लिए कांटे में आटा लगा देते हैं। मछली आटा खाने के मोह में कांटे से बिंध जाती है। ऐसे ही मानसिक दासताओं के कांटे सुरक्षा के आटे में लिपटे रहते हैं। सुरक्षा के नाम पर स्वतंत्रता सदा ही छीनी जाती रही है। यह षड्यंत्र बहुत पुराना है। इस पड्यंत्र के प्रति जो नहीं जागता है, वह उस जीवन को और उस आनंद को कभी नहीं पा सकेगा जो कि चेतना की स्वतंत्रता में अंतर्निहित है। स्वतंत्रता से बड़ा न कोई मूल्य और न कोई अनुभूति ही। स्वतंत्रता से बड़ी कोई उपलब्धि भी नहीं है, क्योंकि स्वतंत्रता से ही सत्य का साक्षात्कार संभव है। मनुष्यात्मा की स्वतंत्रता के विरोध में जो भी हैं, वही उसका शत्रु है। सुरक्षा का मोह प्रमुख शत्रु है। सुरक्षा की अतिचाह ही आत्मा के लिए कारागृह बन जाती है। इसी सुरक्षा की चाह के कारण अंधविश्वास और अंधी परंपराएं चित्त को जकड़े रहती है। उन्हें छोड़ने में भय मालूम होता है क्योंकि उन्हें छोड़ते ही परिचित भूमि छूटती है और अपरिचित प्रदेशों में प्रवेश करना पड़ता है। यही कारण है कि सभी तरह के शोषक फिर चाहे वे राजनैतिक अधिनायक हों, चाहे धार्मिक पुरोहित, मनुष्य के हृदय को भय से मुक्त कभी भी नहीं देखना चाहते। भय ही तो उनके शोषक का मूलाधार है। भय के कारण व्यक्ति जो परिचित है और बहुप्रचारित है, उससे बंधा रहता है, चाहे वह असत्य ही क्यों न हो। और सुरक्षा की दृष्टि से वह भीड़ और समूह की मान्यताओं से ईंच भर भी हिलने का साहस नहीं करता है, चाहे वे मान्यताएं कितनी ही अंधी और अज्ञानपूर्ण क्यों न हों। अंततः भय विचार करने की क्षमता को ही कुंठित कर देता है, क्योंकि विचार विद्रोह में ले जाता है। विचार के समक्ष व्यक्ति की स्वतंत्रता को बचाने के अतिरिक्त और कोई महत्वपूर्ण कार्य भी नहीं है, जब कि उसके चारों ओर शोषण के जाल बिछे हैं और उसके व्यक्तित्व को नष्ट करने की एक सुनियोजित साजिश चल रही है। आर्थिक और राजनैतिक दासताएं तो उस दासता के सामने कुछ भी नहीं हैं, जो कि व्यक्ति की अंतरात्मा को ही सत्य के नाम पर शब्दों और शास्त्रों में बांध लेति है। यह दासता इतनी सूक्ष्म है कि दिखाई भी नहीं पड़ती, और इतनी गहरी है कि व्यक्ति उसे अपने रक्त या हड्डियों की भांति ही अपना मान लेता है। मैं इस दासता के विरोध में खड़ा हूं क्योंकि इसके कारण ही अरबों आत्माएं सत्य के सूर्य के वंचित रही हैं। उनके हृदय उस मुक्ति को नहीं जान पाए जिसके अभाव में कि मनुष्य स्वयं के होने से आनंद और संगीत को ही अनुभव नहीं कर पाता है। परतंत्र चित्त और

परमात्मा में कभी भी मिलन नहीं होता क्योंकि परमात्मा प्रकाश है और परतंत्र चित्तता से घना कोई अंधकार नहीं है।

7. मैं एक बार एक ऐसे मकान में ठहरा था जिसमें कि कोई खिड़कियां ही नहीं थीं। बहुत पुराना मकान था। गृहपति से मैंने कहाः "आपका मकान तो मनुष्य के मन जैसा है। न इसमें कोई खिड़कियां हैं, न उसमें प्रकाश के आने के लिए, खुले आकाश के प्रवेश के लिए, ताजी हवाओं के लिए आपने कोई सुविधा ही नहीं रखी है।" वह बोलेः "मकान बहुत पुराना हैŸ।" मैंने कहाः "ऐसा ही मनुष्य का मन भी बहुत पुराना है। असल में पुराना होने से ही जीवन के प्रति खुलापन बंद हो जाता है। बंद होते जाना मृत्यु है। वह सदा के लिए कब्र में होने की तैयारी है। फिर भी आप चाहें तो क्या दीवालें तोड़ कर आकाश से संबंधित होने का कोई मार्ग नहीं निकाल सकते? क्या यह उचित नहीं कि जो दीवालों में है, वह उससे संबंधित है, जो कि दीवालों के बाहर है? क्या दीवालें इतनी बहुमुल्य हैं कि उन्हें तोड़ कर आकाश को पाना महंगा होगा? वस्तुतः तो दीवारों से घिरा व्यक्ति स्वयं के जीवन के वास्तविक क्षितिज को ही नहीं जान पाता। पुरानी दीवालों के कारण आकाश से टूटना कितना घातक है? पुराने मन के कारण आत्मा से टूटना कितना आत्मघातक है?"

8. वह व्यक्ति जीवित ही नहीं है जो कि स्वयं की सत्ता को संकट में अनुभव नहीं करता। वह तो किसी भांति जीए जाता है या कि किसी भांति मरे जाता है। वह स्वयं के होने के प्रति अभी विमर्श से ही नहीं भरा है। जीवन के प्रति विमर्श सबसे पहले तो मनुष्य को मृत्यु के तथ्य के प्रति जगाता है। मृत्यु की संभावना संकट बन जाती है। और संकट स्वयं की खोज का शुभारंभ है। संकट सत्य की दिशा में अनुसंधान का जन्म है। संकट मृत्यु से अमृŸŸत की ओर जाने के लिए संक्रांति का क्षण है। इसीलिए पूछता हूं कि क्या जीवन का संकट आ गया है? यदि नहीं तो अभी सत्य की खोज कैसे प्रारंभ हो सकती है? मनुष्य चेतना को संकट पर आना ही होता है। संकट का अर्थ हैः स्वयं के न हो जाने की संभावना का साक्षात्कार। उससे ही परमसत्ता की अभीप्सा पैदा होती है और उसकी उपलब्धि का अभियान शुरू होता है। मृत्यु की आंखों में झांके बिना जीवन की खोज में न कोई कभी गया है, और न ही जा सकता है। जीवन खोज है, लेकिन जब तक मृत्यु पर दृष्टि नहीं पड़ती तब तक यह खोज स्वयं जीवन की ही खोज नहीं बनती। उस समय तक तो मनुष्य क्षुद्र को ही खोजता रहता है और क्षुद्र की खोज में व्यर्थ ही मरता रहता है। वह क्षुद्र में उलझा रहता है और मृत्यु उसे खोजती रहती है। किंतु जैसे ही मृत्यु पर उसकी दृष्टि उसे खोजती रहती है। किंतु जैसे ही मृत्यु पर उसकी दृष्टि जाती है, वैसे ही एक अभूतपूर्व संकट उपस्थित हो जाता है। यह संकट उसकी क्षुद्र की दौड़ को तोड़ देता है। यह आघात उसकी स्वप्न तंद्रा में बाधा बन जाता है। अब और सोए रहना असंभव होता है। यही घड़ी संकट की यही घड़ी जीवन के प्रति जगाती है। और चेतना मृत्यु के अतिक्रमण में संलग्न होती है। इसीलिए मैं कहता हूंः जाओ और मृत्यु को खोजो। इसके पहले कि वह तुम्हें खोजे, अच्छा है कि तुम ही खोज लो। इससे अधिक आत्यंतिक अर्थ की और कोई बात नहीं है।

9. एक संन्यासी आए थे। वे कहते थेः "मैं अमृत का विचार करता हूं।" मैंने उनसे कहाः "अमृत का विचार संभव ही नहीं, क्योंकि जो विचार में आ सकता है, वह अमृत नहीं हो सकता। विचार है मर्त्य, उसका अमŸृत से संपर्क ही कैसे होगा? अच्छा हो कि आप मृत्यु का पूर्ण साक्षात्कार ही आत्मा को अमृत में ले जाता है। लेकिन हम तो मृत्यु से भय खाते हैं, इसीलिए अमृत का विचार करते हैं। अमृत का विचार क्या मृत्यु से भयभीत है, क्या वह अमृत की उपलब्ध में समर्थ हो सकता है? मित्र, वस्तुतः तो मृत्यु में भय नहीं है, भय में ही मृत्यु है मृत्यु तो है अपरिचित चाहिए। अज्ञात का भय नहीं होता है। भय होता है ज्ञात के छूटने का। मृत्यु का भय मृत्यु का नहीं, वरन जिसे हम जीवन जानते और मानते हैं, उसके टूटने का भय है। और भय घनीभूत होकर मृत्यु बन

जाता है। इसीलिए मैंने कहा कि मृत्यु को खोजें। वह खोज बहुत फलदायी है क्योंकि उस खोज के अंत में मृत्यु नहीं पाई जाती और जो पाया जाता है, वही अमृत है।"

10. मैं अंधविश्वास का विरोधी हूं। और वस्तुतः तो विश्वासमात्र ही अंधे होते हैं। विश्वासों के कारण ही विवेक सतेज नहीं हो पाता। उनके कारण उसके जागरण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जैसे किसी व्यक्ति को बचपन से ही पैरों की जगह वैशाखियों के सहारे चलाया जाए, तो उसके पैर पंगु हो जावेंगे, ऐसे ही विश्वास के सहारे चलने से बुद्धि पंगु हो जाती है। और बुद्धि के पंगु होने से बड़ी मनुष्य के जीवन में और कौन सी दुर्घटना हो सकती है? किंतु, विश्वास यही करते हैं। असल में समाज या राष्ट्र चाहता ही नहीं कि व्यक्ति में विचार की शक्ति हो। विचार की शक्ति से सभी चुस्त स्वार्थी सत्ताधिकारियों और शोषकों को खतरा है। विचार जहां है, वहां विद्रोह की संभावना हैं। और विचार जहां है, वहां सत्य की खोज के जन्म होने का डर है। जब कि तथाकथित समाज, धर्म और राज्य बहुत से असत्यों को अपने भवन की नींव बनाए हुए हैं। इसीलिए ही व्यक्ति के पैदा होते ही उसे विश्वास की परतंत्रता में बांधने के सामूहिक प्रयास शुरू हो जाते हैं। आज तक की सारी शिक्षा भी यही करती रही है। शिक्षा है तो मनुष्य को मुक्त करने के लिए। ऐसा कहा भी जाता है। किंतु वह जो वस्तुतः करती है, वह है व्यक्ति के चित्त में सूक्ष्म मानसिक बंधनों और दासता का निर्माण। वह विचार नहीं, विश्वास सिखाती है। वह भी संदेह और विद्रोह नहीं सिखाती और इसीलिए तथाकथित रूप से शिक्षित व्यक्ति स्वतंत्रता से चिंतन करने में करीब असमर्थ ही हो जाता है। सत्य की जीवंत खोज विश्वास से नहीं, संदेह से होती है। सत्य की खोज में स्वस्थ संदेह से बड़ी और कोई शक्ति नहीं है। श्रद्धा खोज का आरंभ नहीं, अंत है। आरंभ तो संदेह ही है। सम्यक अनुसंधान संदेह से प्रारंभ और श्रद्धा पर परिपूर्ण होता है। असम्यक अनुसंधान श्रद्धा से यात्रा शुरू करता और संदेह में ही जीता और संदेह में ही समाप्त होता है। क्योंकि ऐसी श्रद्धा वास्तविक ही नहीं हो सकती। विश्वास से आई हुई श्रद्धा सत्य कैसे होगी? सत्य श्रद्धा का जन्म तो ज्ञान से होता है। ज्ञान ही श्रद्धा है। अज्ञान है विश्वास, ज्ञान है श्रद्धा। लाई हुई श्रद्धा विश्वास है। थोपी हुई श्रद्धा विश्वास है। सीधी हुई श्रद्धा विश्वास है। जागी हुई श्रद्धा ज्ञान के आलोक में सहज और स्वतः आई हुई श्रद्धा ही वास्तविक श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा न तो लानी ही पड़ती है और न सीखनी ही। वह तो आती है। सीखना पड़ता है संदेह--समयक संदेह ठिळसहीं ऊेर्ीर्लीं सम्यक संदेह सत्य श्रद्धा को पाने की विधि है। संदेह अविश्वास नहीं है। क्योंकि अविश्वास तो विश्वास का ही नकारात्मक पहलू है। संदेह अविश्वास हो तो असम्यक और अस्वस्थ हो जाता है। संदेह न तो विश्वास है, न अविश्वास। वह है मुक्त जिज्ञासा। वह है खोज की अदम्य वृत्ति। वह है ज्ञान की अभीप्सा। वह है सतत अनुसंधान। वह है, सत्य के पूर्व, स्वानुभूति सत्य के पूर्व, कहीं भी न ठहरने का दृढ़ संकल्प। मेरे देखे विश्वास भी बाधक हैं और अविश्वास भी। साधक है संदेह। संदेह ही अंततः सत्य तक पहुंचा सकता है। एक सत्य का खोजी था। वह वर्षों की खोज के बाद एक ऋषि के पास पहुंचा। ऋषि की गुफा शास्त्रों ही शास्त्रों से भरी थी। अनंत शास्त्र थे। गुफा में जहां तक दृष्टि जाती थी वहां तक शास्त्र ही शास्त्र थे। ऋषि ने उससे कहाः "इन शास्त्रों में विश्व का सारा ज्ञान है। सत्य को खोजते जो यहां तक आ जाते हैं, उनके लिए ही ये रहस्यपूर्ण गुप्त शास्त्र संग्रथित किए गए हैं। प्रत्येक खोजने वाला कोई भी एक शास्त्र ले सकता है। तुम कौन सा शास्त्र चाहते हो?" उस युवक खोजी ने शास्त्रों की अंतहीन श्रंखला को देखा, फिर बहुत सोचा और कहाः "वह शास्त्र मुझे दें जिसमें यह सब उपलब्ध हो जो कि शेष सारे शास्त्रों में है।" वृद्ध ऋषि इस पर हंसा और बोलाः "ऐसा शास्त्र भी निश्चित ही है लेकिन उसे खोजने मुश्किल से ही कभी कोई यहां आता है।" और उसने सत्य के उस खोजी को एक शास्त्र दिया जिस पर

लिखा थाः "परम संदेह का शास्त्र।" मैं भी सभी को यही शास्त्र देना चाहता हूं, क्योंकि यह शास्त्र ही शेष सब शास्त्रों से मुक्त कर व्यक्ति को सत्य तक पहुंचा देता है।

11. मैं नदी तट पर खड़ा था। छोटी सी नदी थी। संध्या हो रही थी। गांव की युवतियां गागरों में पानी भर अपने घरों को लौट रही थीं। मैंने देखाः नदी से पानी भरना हो तो थोड़ा नीचे झुकना पड़ता है। जीवन से पानी भरने के लिए भी झुकने का कला आनी चाहिए। लेकिन झुकना तो जैसे मनुष्य भूलता ही जाता है। उसका अहंकार उसे झुकने ही नहीं देता। इससे ही प्रेम और प्रार्थना सभी विलीन होते जा रहे हैं। वस्तुतः जो भी महत्वपूर्ण है, वह सभी विलीन होता जाता है। और जीवन संगीत और सौंदर्य की जगह निपट संघर्ष ही बन गया है। जहां झुकने का रहस्य ज्ञात न हो, वहां संघर्ष ही शेष रह जाता है। और जहां झुकने की हार्दिक संवेदनशीलता अपरिचित हो, वहां कठोर और अनंत अहंकार असहनीय पीड़ा का स्रोत हो जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। झुकना व्यक्ति को समस्त से जोड़ता है। न झुकने का आग्रह उसे सर्वसत्ता से तोड़ देता है। निश्चय ही यह झुकना सहज और स्वयंस्फूर्त होना चाहिए। अन्यथा वह भी अहंकार की ही एक अभिव्यक्ति बन जाता है। विचार मात्र से जो झुकना आता है, वह न यथार्थ होता है और न समग्र क्योंकि उसके पीछे किसी न किसी तल पर प्रतिरोध बना ही रहता है और मात्र बौद्धिक सतह से जन्मने के कारण वह अयथार्थ भी होता है, क्योंकि प्राणों की समग्रता उसकी गवाही में नहीं होती है। फिर ऐसा झुकना पश्चात्ताप भी लाता हैŸ, क्योंकि उससे अहंकार को चोट लगती है। वह अहंकार के विरोध में किया गया कृत्य है, इसीलिए अहंकार पश्चात्ताप के रूप में उसका बदला भी लेता है। मनुष्य हृदय जब अहंकार-शून्य होता है, तभी वह सहजता से और समग्रता से झुकता है। यह झुकना वैसे ही सहज और समग्र होता है जैसे कि आंधियों में घास के छोटे पौधे झुक जाते हैं। वे जैसे आंधियों के साथ एक ही हो जाते हैं। उनका आंधियों से कोई विरोध ही नहीं है और उन्हें स्वयं की अहंता का भी कोई बोध ही नहीं है और उन्हें स्वयं की अहंता का भी कोई बोध नहीं है। मनुष्य जिस दिन इस भांति के झुकने को जान लेता है, उसी दिन परमात्मा के सारे रहस्य उसके समक्ष स्पष्ट हो जाते हैं। एक फकीर से किसी युवक ने पूछा थाः "पुराने दिनों में ऐसे लोग थे जिन्होंने परमात्मा को स्वयं अपनी आंखों से देखा था। अब ऐसे लोग क्यों नहीं है।" उस वृद्ध ने उत्तर में कहा थाः "क्योंकि, आजकल इतना नीचा झुकने को कोई राजी ही नहीं।" निश्चय ही परमात्मा की नदी से पानी भरने के लिए झुकना आवश्यक है। जो नदी तट पर अकड़े खड़े हैं, वे कैसे उस पानी को भर सकते हैंŸ?

12. ज्ञान की उपलब्धि के लिए विनम्र और मुक्त मस्तिष्क से अधिक अनिवार्य और आवश्यक और कुछ भी नहीं है। लेकिन साधारणतः मस्तिष्क होता है अहंकारग्रस्त और पूर्वाग्रहों और पक्षपातों की सख्त कारागृह में आबद्ध। अहंकार भीतर से बांधे रहता है और पक्षपात और पूर्वाग्रह बाहर से। इन दोनों की कैद में मनुष्य की प्रज्ञा ढंके हुए सत्य को उघाड़ने की सारी क्षमता ही धीरे-धीरे खो देती है। अलबर्ट आइंस्टीन से किसी ने पूछाः "वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व कौन सा है, जिसके बिना कि विज्ञान की खोज असंभव है?" और ज्ञात है कि आइंस्टीन ने क्या कहा? जो उसने कहा, पूछने वाले ने स्वप्न में भी उसकी कल्पना न की होगी। उसने कहाः "अहंकार-शून्यता।" निश्चय ही ज्ञान की कुंजी अहंकार-शून्यता है। अहंकार है अज्ञान। मैं से भरा हुआ मन इतना भरा हुआ होता है कि उसमें सत्य के अतिथि के आने योग्य स्थान ही नहीं होता है। मैं से मुक्ति हो तो सत्य आ सकता है। हृदय का घर छोटा है। उसमें दो नहीं समा सकते हैं। मित्र, कबीर ने गलत नहीं कहा। वह गली निश्चय ही संकरी है। और यह अहंकार ही है जो कि पूर्वाग्रहों और पक्षपातों का संग्रह कर लेता है। अज्ञान में होते हुए भी ज्ञानी दीखने के लिए इससे सुगम विधि और हो भी क्या सकती है? अहंकार अपनी पुष्टि के लिए ही ज्ञान

इकट्ठा करता है। उसे पाकर वह स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता है। परिग्रह मात्र अहंकर की सुरक्षा के उपाय हैं और इसीलिए ही विचारों का विवाद बहुत शीघ्र ही अहंकारों का युद्ध बन जाता है। फिर सत्य नहीं, मेरे सत्य के केंद्र पर सारी शक्ति लग जाती है। मेरा सत्य, मेरा धर्म, मेरा शास्त्र, मेरा भगवान। क्या इन सबमें--सबके केंद्र में मैं ही नहीं है? और जहां मैं है, वहां सत्य कहां? धर्म कहां? ज्ञान कहां? मैं जितना आक्रमक होता है, सत्य उतना ही दूर हट जाता है। इस स्थिति में अहंकार सिद्धांतों और शब्दों को ही सत्य मान कर तृप्ति कर लेता है। इस तृप्ति में भय तो होता ही है, जिसे सत्य माना है, उसके असत्य होने की संभावना और संदेह तो होता ही है। इसीलिए ही अहंकार स्वयं को ही विश्वास दिलाने के लिए माने सत्य की जोर से दुहाई देने लगता है। वह उसके लिए मरने को भी तैयार हो जाता है। वह माने हुए सत्य के विरोध में कुछ भी सुनने तक से भय खाता है, क्योंकि सदा ऐसे तथ्यों के प्रकट होने की संभावनाएं बनी रहती हैं जो कि उसके सत्य को असत्य कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में न वह सुनना चाहता है, न सोचना चाहता है। वह तो जो उसने मान लिया है, उसमें, अंधेपन से संतुष्ट रहना चाहता है। सत्य की खोज में यह वृत्ति बहुत घातक है। सस्ती संतुष्टि को जो खोजता है, वह सत्य को नहीं खोज सकता। सत्य के लिए तो ऐसी संतुष्टि को भी खोना पड़ता है। संतुष्ट नहीं, लक्ष्य सत्य है और सत्य जब मिलता है तो संतुष्टि तो छाया की भांति उसके पीछे चली आती है। सत्य को किसी भी मूल्य पर खोजने के लिए जो कटिबद्ध है, वह सतुष्टि को तो अवश्य ही पा लेता है लेकिन जो संतुष्टि को ही खोजने लगता है, वह सत्य से तो वंचित रहता ही है, अंततः संतुष्टि से भी वंचित रह जाता है।

13. प्रेम मुक्ति है। प्रेम का बंधन ही मुक्ति है। अनंत प्रेम के अनंत बंधनों में बंध जाता है, वह मुक्त हो जाता है। मैं खोज अहंकार का बंधन भी हो सकती है, जब कि प्रेम की खोज तो अहंकार की मृत्यु के बिना प्रारंभ ही नहीं हो सकती है। प्रेम की खोज का अर्थ अहंकार की मृत्यु। और अहंकार की मृत्यु ही तो मुक्ति है। अहंकार संसार को पाने के स्वप्न देखने लगता है। संसार की दौड़ में भी वही था। मोक्ष की दौड़ में भी वही है। इस सत्य को जो नहीं देखता, वह बहुत गहरी आत्मवंचना में पड़ जाता है। अहंकार जहां है, वहीं संसार है, वहीं अमुक्ति है। वही तो है बंधन। वही तो है सारे बंधनों की मातृभूमि उस भूमि में ही मोक्ष के बीज कैसे समा सकते हैं? अहंकार की मुक्त होने की अभीप्सा से ज्यादा मूढ़तापूर्ण बात और क्या हो सकती है? मुक्ति के लिए अहंकार को नहीं, वरन अहंकार से ही मुक्त होना है। इसीलिए अहंकार न तो संन्यास से डरता है, न त्याग से, न धर्म से, न ज्ञान से, न मोक्ष से। वह डरता है प्रेम से। संन्यास में, त्याग में, मोक्ष की साधना में सबमें वह बच सकता है लेकिन प्र्ेम में उसका बचना असंभव है। प्रेम उसकी मृत्यु है। प्रेम उसकी नहीं, उससे ही मुक्ति है।

14. मैं किसी भिन्न जगत में नहीं हूं। उसी जगत में हूं, जहां सब हैं। किंतु जीवन को देखने की दृष्टि की निश्चय ही आमूलतः बदल गई है। और उस दृष्टि का बदल जाना कैसे कि इस जगत का ही बदल जाना है। क्योंकि हम वही देखते हैं जो कि हम हैं। हमारी दृष्टि ही हमारा जगत और जीवन है। जैसी दृष्टि है, वैसी ही सृष्टि हो जाती है। जीवन दुख मालूम होता हो तो जानें कि सृष्टि दुख की है, और जीवन को नहीं, दृष्टि को बदलने में संलग्न हो जावें। दृष्टि को बदलने का अर्थ है स्वयं को बदलना। स्वयं पर ही निर्भर है। स्वयं में ही नरक है और स्वयं में ही स्वर्ग। स्वयं में ही संसार है और स्वयं में ही मोक्ष। जो है, वह तो सदा वही है किंतु एक दृष्टि उसे बंधन बना देती है और दूसरी मुक्ति। अहंकार के बिंदु से देखने पर जीवन नरक हो जाता है। क्योंकि वह दृष्टि सर्वविरोधी है। सर्व सत्ता से भिन्न और विरोध में होकर ही तो मैं "मैं" हो सकता हूं। मैं होने की चेष्टा सर्व से संघर्ष और प्रतिरोध की साधना है। ऐसी चेष्टा से ही चिंता फलित होती है और संताप का जन्म होता है। इससे ही मिटने का और मृत्यु का भय पैदा होता है। फिर जो असत्य है और असंभव है उसके लिए प्रयासरत होने से

दुख आता हो तो आश्चर्य भी नहीं है। अहंकार-शून्यता का भी एक बिंदु है। जगत को उस बिंदु से भी देखा जा सकता है। "मैं" सर्व से विरोध है, संघर्ष है। "न मैं" सर्व से सम्मिलन है। वह सम्मिलन सत्य है क्योंकि सत्ता अखंड और अविभाज्य है। सब खंड़ और विभाजन मनुष्य कल्पित हैं। मैं हूं, तो खंड में हूं। मैं नहीं हूं, तो अखंड में हूं। और खंड में होना बंधन है, अखंड में होना मुक्ति है। मैं हूं, तो दुख में हूं क्योंकि वह होना ही सतत द्वंद्व है, युद्ध है, संघर्ष है। मैं नहीं हूं, तो आनंद में हूं क्योंकि न हो जाना अनंत शांति है। मैं से मुक्त होते ही चेतना परंपरा से मुक्त हो जाती है। मैं से वियोग, परमात्मा से योग है।

15. प्रकृति से विरोध मूर्खतापूर्ण है। परमात्मा को प्रकृति के विरोध में नहीं पाया जात सकता। वह जो प्रकृति में ही छिपा है। इसीलिए प्रकृति से लड़ना नहीं है, वरन प्रकृति को उघाड़ना है। वह तो पर्दा है, उसे उठाना हैŸ। प्रकृति उसका ही अंग है, उसकी ही अभिव्यक्ति है। उसमें ही गहरे केंद्र पर वह बैठा है। प्रकृति से लड़ कर हम उसके निकट नहीं और दूर ही पहुंच सकते हैं। किंतु सदा से यह लड़ाई ही सिखाई गई है। परमात्मा को प्रकृति के विरोध में खड़ा किया गया है। मनुष्य की आध्यात्मिक दीनता इस विरोध का ही परिणाम है। उसे प्रकृति से लड़ कर परमात्मा को खोजने के लिए कहा गया है। जब कि प्रकृति परमात्मा में है और परमात्मा प्रकृति में। प्रकृति से मुक्त होकर परमात्मा नहीं है। प्रकृति से पूर्णतया संयुक्त होकर ही परमात्मा है। प्रकृति विरोधी शिक्षाओं ने मनुष्य के जीवन से परमात्मा से मिलन की सीढ़ी ही छीन ली है। प्रकृति तो सेतु है। उस पर रुकना नहीं है। पर उस पर से जाना जरूर है। उससे लड़ना नहीं है। वह तो सहयोगी है। वह तो पहुंचने वाला मार्ग है। उसके अतिरिक्त तो और कोई मार्ग ही नहीं है। प्रकृति को प्रेम करना है। समग्र मन से प्रेम करना है। प्रेम ही उसका द्वार खोलता है। और उस द्वार से ही उसके दर्शन होते हैं जो कि परमात्मा है। किंतु हमें तो बताया गया है कि प्रकृति बंधन है। वह कारागृह है। वह पाप है। इन गलत सिखावनों ने मनुष्य के मन को विषाक्त कर दिया है और प्रकृति के प्रति उसके प्रेम और ज्ञान की संभावना को गहरी चोट पहुंचाई है। और यह चोट उसके और परमात्मा के बीच दूरी और अलगाव का कारण हो गई है। परमात्मा को मनुष्य के जीवन में वापस लाना हो तो उसके पूर्व प्रकृति को उसके जीवन में वापस लाना आवश्यक है। मनुष्य हृदय में प्रकृति की प्रतिष्ठा के बिना परमात्मा की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती। प्रकृति का प्रेम ही अंततः परमात्मा की प्रार्थना में रूपांतरित होता है। प्रकृति से मुक्ति नहीं, प्रकृति में ही मुक्ति है।

16. एक पहाड़ी झरने के पास हम बैठे थे। झरने के नीचे ही छोटा सा कुंड था। उसमें बहुत सी मछलियां थीं। उन्हें मैंने हाथ में उठा लिया था और जो साथ थे उनसे कहा थाः "देखो इन सीपों में अजन्मे जीव हैं। जब वे सीपों को तोड़ने में समर्थ हो जावेंगे, उनका जन्म होगा। और क्या ऐसे ही हमारे भीतर भी अजन्मा जीवन नहीं है? क्या सीप जैसी ही कोई सख्त चीज हमें नहीं घेरे हुए हैंŸ? क्या हमारी अहंताएं सीपों की भांति ही नहीं हैं? और क्या इन्हें तोड़ कर हम भी उस जीवन को जन्म नहीं दे सकते हैं जो कि हमारे भीतर अभी अजन्मा है? "मैं" उस जीवन के जन्म के विरोध में है और यह "मैं" भलीभांति जानता है कि स्वयं की रक्षा कैसे की जाए। संपत्ति से, यश से, पद से तो वह अपनी रक्षा करता ही है। किंतु और भी सूक्ष्मरूपों में धर्म, नीति, पुण्य, आदर्श, मोक्ष आदि से भी वह अपनी रक्षा करता है। वह जीना चाहता है, बढ़ना चाहता है, समृद्ध होना चाहता है। किंतु स्मरण रहे कि वह जितना सुदृढ़ होता जाएगा, उतनी ही उस जीवन के विकास की संभावना क्षीण होती जाएगी, जिसके लिए कि वह एक खोलमात्र है। अहंकार की कठोरता से अंततः अजन्मी आत्मा की भ्रूणहत्या हो जाती है। आत्मा के जन्म के लिए अहंकार की मृत्यु आवश्यक है।"

17. मैं क्या बोल रहा हूं? शब्द? नहीं। नहीं। शब्दों को ही जो सुनेंगे, वे उसे नहीं समझ सकेंगे जो कि मैं बोल रहा हूं। क्या किन्हीं विचारों पर हम विचार कर रहे हैं? नहीं। नहीं। विचारों पर विचार नहीं कर रहे हैं। वस्तुतः विचार ही नहीं कर रहे हैं। वरन जीवन की एक अवस्था को, अस्तित्व की एक स्थिति को खोज रहे हैं। सखा में... शुद्ध सत्ता में प्रवेश खोज रहे हैं। लेकिन तब निश्चय ही समझने का अर्थ मात्र समझना नहीं है, वरन प्रवेश है। जीवन में प्रवेश करके ही जीवन को समझा जा सकता है। प्रेम में होकर ही प्रेम को जाना जा सकता है। विचार में यात्रा नहीं करनी है। अपितु अस्तित्व में छलांग लगानी है। क्या मैं अपनी बात समझा पा रहा हूं--उसे समझने की चिंता न करें। वैसी चिंता उलटे समझने ही न देगी। विचार करें। देखें। वृक्षों पर फूल खिले हैं। बाहर देखें। गुलमुहर पर कैसे फूल छाए हैं? क्या उन्हें सोचते हैं कि देखते हैं? यह कोयल बोले जा रही है। उसे सोचते हैं या कि सुनते हैं? ऐसे ही जो मैं कह रहा हूं उसे सुनें और देखें। विचार नहीं, गहरी और पैनी दृष्टि ही उसके अर्थ में ले जा सकती है। विचार, शब्द पर ठिठक जाता है, दृष्टि निःशब्द को भेद देती है। विचार व्यर्थ विचारने लगता है, दृष्टि अर्थ को उघाड़ देती है। और दृष्टि उतनी ही गहरी होती है, जितनी विचारों से मुक्त होती है। विचार में समय लगता है। वह क्रिया है। ज्ञान में, अंतर्दृष्टि में समय नहीं है। वह तो बोध की अत्यंत प्रगाढ़ दशा है। क्या सौंदर्यानुभूति के किसी क्षण में, प्रेम या आनंद की किसी अनुभूति में इसे नहीं जाना है? क्या उस समय प्रगाढ़ चेतना ही शेष नहीं रह जाती है और विचार विदा नहीं हो जाते हैं? जीवन में जो भी सत्य है, सुंदर है, शिव है, वह विचारों की तरंगों में नहीं वरन निर्विचार की निस्तरंग शांति में ही जाना जाता है।

18. मैं तथाकथित संन्यास को अज्ञान मानता हूं। मेरे देखे, जहां ज्ञान है, वहां कैसा संन्यास? अज्ञान में त्याग है, क्योंकि अज्ञान में भोग है। अज्ञान में पुण्य है, क्योंकि अज्ञान में पाप है। जो जानता है, वह पाप और पुण्य दोनों से मुक्त हो जाता है। जो जानता है, उससे भोग और योग दोनों ही विदा ले लेते हैं। ज्ञान में राग और विराग का द्वंद्व नहीं है। वह स्थिति तो अद्वंद्व की है। वहां न संसार है, न संन्यास है। वहां तो केवल सत्य है। वहां तो केवल सत्ता है। अज्ञान द्वंद्व में जीता है। द्वंद्व ही उसका प्राण है। इसीलिए वह चित्त को एक अति से दूसरी अति पर भटकाता रहता है। भोग छूटता है तो त्याग पकड़ जाता है। और त्याग क्या है? क्या त्याग भोग का ही विरोध नहीं है? विराग क्या है? क्या विराग राग से ही शत्रुता नहीं है? और संन्यास क्या है? क्या वह संसार से ही विपरीत दिशा में भागना नहीं है? लेकिन स्मरण रहे कि चित्त जिसके भी विरोध में होता है, उससे ही बंध जाता है। इसीलिए विरोध नई दासता तो हो सकती है, स्वतंत्रता वह नहीं है। स्वतंत्रता असत्य से विरोध में या पलायन में नहीं है। स्वतंत्रता तो सत्य के ज्ञान में है। सत्य ही और केवल सत्य ही मुक्त करता है।

19. सत्य क्या है? कोई सिद्धांत? कोई संप्रदाय? कोई संगठन? कोई शास्त्र? कोई शब्द? नहीं। सत्य सिद्धांत नहीं है क्योंकि सिद्धांत है मृत और सत्य है स्वयं जीवन। सत्य संप्रदाय नहीं है, क्योंकि उस तक पहुंचने का कोई मार्ग ही नहीं है। अज्ञात और ज्ञात मार्ग अज्ञात तक कैसे ले जा सकते हैं? सत्य संगठन भी नहीं है, क्योंकि वह है कालातीत अनुभूति--अत्यंत वैयक्तिक और निजी--उसे काल के प्रवाह में संगठित कैसे किया जा सकता है? सत्य शास्त्र नहीं है क्योंकि सब शास्त्र मनुष्य कृत हैं, "और सत्य अकृत है, असृष्ट है, अनादि है और अनंत है। सत्य शब्द भी नहीं है, क्योंकि शब्द पैदा होते हैं और विलीन हो जाते हैं जब कि सत्य सदा है, सदैव है, सनातन और शाश्वत है। फिर सत्य क्या है? वस्तुतः "क्या" की भाषा में सत्य है ही नहीं। वह तो है, जो है, वही वह है। उसे सोचा--विचारा नहीं जा सकता, यद्यपि उसमें हुआ जा सकता है। सोच-विचार ही उसमें होने में बाधा हैŸ। संगीत की लयबद्धता में, प्रेम की परिपूर्णता में, प्रकृति के सौंदर्य में जब व्यक्ति न होने जैसा ही हो जाता है, तब जो है, वही सत्य है। व्यक्ति असत्य है। अव्यक्ति सत्य है। अहं असत्य है। ब्रह्म सत्य है।

20. व्यक्ति उलझा हुआ है, इसीलिए समाज उलझा हुआ है। व्यक्ति की समस्या ही विश्व की समस्या है। और व्यक्ति क्यों समस्या में है? व्यक्ति समस्या में नहीं, अपितु व्यक्ति ही समस्या है। उसकी व्यक्ति चेतना ही समस्या है, उसकी अहं चेतना ही समस्या है। "मैं हूं"... इसमें से "मैं" नहीं हो जाए और मात्र "हूं" की अनुभूति हो सके तो समस्या विलीन हो जाती है और समाधान द्वार आ जाता है। वस्तुतः जीवन होना मात्र है। वह तो सहज प्रवाह है। उस प्रवाह पर मैं आरोपण है। "मैं" को खोजो। वह कहां है? मैं कहां है? कहीं भी तो नहीं। जीवन है, होना है, पर मैं कहां है। किंतु हम तो सारा जीवन ही मैं पर खड़ा करते हैं, तब कौनसा आश्चर्य है यदि इस जीवन में शांति के दर्शन न होते हों? हमारा धर्म, हमारी सभ्यता सभी तो मैं पर खड़े हैं, तब क्या यह स्वाभाविक ही नहीं है कि उन सबसे चिंता तनाव, उन्माद और विक्षिप्तताएं पैदा होती हों? मैं की भूमि पर जो भी निर्मित है, वह सब अस्वस्थ है और अस्वस्थ ही हो सकता है। मैं के केंद्र पर बनाया गया जीवन ही जन्म और मृत्यु की यात्रा करता है। मैं का ही जन्म है। मैं की ही मृत्यु है। स्वप्न ही पैदा होते हैं और स्वप्न ही विलीन हो जाते हैं। जो है, उसका न तो जन्म है और न मृत्यु है। वह तो बस है... है... है... "मैं" को भूलो--छोड़ो। और "है" में जागो--जीओ। "मैं" "है" में नहीं जागने देता, नहीं जीने देता। वह या तो अतीत में होता है या उसकी ही प्रतिध्वनि भविष्य में। जब कि जीवन है सदा वर्तमान--सदा अभी और यहीं। "मैं" से मुक्त होकर जो इस वर्तमान में जाग जाता है, वह पाता है कि जीवन का अमृत, सत्य, सौंदर्य और संगीत उसे सब ओर से, सब दिशाओं से, बाहर से, भीतर से... वैसे ही घेरे हुए हैं जैसे मछली को सागर घेरे रहता है।

21. मैं दो ही प्रकार के मनुष्यों को जानता हूं। एक तो वे जो सत्य की ओर पीठ किए हुए हैं और दूसरे वे जिन्होंने सत्य की ओर आंखें उठा ली हैं। इन दो वर्गों के अतिरिक्त और कोई वर्ग नहीं है।

22. विचार शक्ति वैसे ही है जैसे विद्युत या गुरुत्वाकर्षण। विद्युत का उपयोग हम जान गए हैं लेकिन विचार का उपयोग अभी सभी को ज्ञात नहीं है। फिर जिन्हें ज्ञात है वे भी उसका उपयोग नहीं कर पाते हैं क्योंकि उस उपयोग के लिए स्वयं के व्यक्तित्व का आमूल परिवर्तन आवश्यक है।

23. सत्य और स्वयं के मध्य कोई अलंघय खाई नहीं है, सिवाय साहस के अभाव के।

24. मनुष्य भी कैसा अदभुत है, उसके भीतर कूड़े-करकट की गंदगी भी है और स्वर्ण की अमूल्य निधि भी। और हम किसे उपलब्ध हो जाते हैं, यह बिल्कुल ही हमारे हाथ में है।

25. प्रभु को भीतर पाते ही सर्वत्र उसी के दर्शन होने लगते हैं। वस्तुतः जो हममें होता है, उसकी ही हमें बाहर भी अनुभूति होती है। ईश्वर नहीं दिखाई पड़ता है, तो जानना कि अभी तुमने उसे भीतर नहीं खोया है।

26. सत्य का सृजन नहीं करना है। उसका सृजन किया भी नहीं जा सकता। और जिसका सृजन हो सके जानना कि वह असत्य है। सत्य का सृजन नहीं, दर्शन होता है। स्वयं के पास उसे ग्रहण करनेवाली आंखें भर हों तो सत्य तो सदा ही उपस्थित है।

27. "जो है" उसे जानने के लिए स्वयं को दर्पण बनाना आवश्यक है। विचारों की छायाएं चित्त को अविकृत नहीं रहने देती हैं। जैसे ही विचार शांत होते हैं और चित्त शून्य, वैसे ही भीतर वह दर्पण उपलब्ध हो जाता है जो कि सत्य के प्रतिफलन में समर्थ होता है।

28. जो हुआ है, वह अनहुआ हो सकता है। जो किया है, वह अनकिया हो सकता है। मनुष्य कर्म में बंधने में समर्थ है तो मुक्त होने में भी समर्थ है। उसकी परतंत्रता भी उसकी स्वतंत्रता ही है।

29. स्वतंत्रता आत्मा का स्वरूप है। इसलिए यदि संकल्प हो तो कैसी भी परतंत्रता को क्षण में ही तोड़ा जा सकता है। संकल्प का, अनुपात ही स्वतंत्रता का अनुपात है।

30. मैं रोज ही मर जाता हूं--वस्तुतः प्रतिक्षण ही मर जाता हूं, और इसे मैंने जीवन का--चिर जीवन का रहस्य जाना है। जो अतीत को ढोता है, वह मृत को ढोने के कारण मृत होता है।

31. जीवन की बड़ी बड़ी यात्रा के लिए एक कदम उठाने का साहस ही काफी है क्योंकि एक कदम से अधिक तो एक ही साथ कोई भी नहीं चल सकता है। मित्र, हजारों मील की यात्रा भी एक ही कदम से आरंभ होती है और एक ही कदम से पूरी होती है।

31. प्रभु की खोज क्या है? अपने खोए घर की खोज। संसार में मनुष्य बेघर है और अजनबी है।

33. सत्य की परिभाषा पूछते हो? सत्य की कोई परिभाषा नहीं है क्योंकि स्वयं की ही स्वयं के द्वारा क्या परिभाषा हो सकती है? पायलट ने क्राइस्ट से पूछा थाः "सत्य क्या है?" क्राइस्ट ने पायलट की ओर मात्र देखा भर और चुप रहे। सत्य कोई सिद्धांत नहीं है। सत्य कोई शब्द नहीं। सत्य तो अनुभूति है--स्वयं की आत्यंतिक गहराई की अनुभूति। "जो है" उसके साथ एक हो जाना सत्य है।

34. जीवन हमें तभी मिलता है जब हम अपनी आत्यंतिक गहराई को स्पर्श करते हैं--अन्यथा हम केवल जीते हैं। और मात्र जीने और जीवन में उतना ही भेद है जितना कि मृत्यु और जीवन में है।

35. धर्म का क्या अर्थ है? कीचड़ से कमल की ओर जाना। कीचड़ भी वही है, और कमल भी वही है... पर कितना भेद है।"

36. धर्म कोई अभूर्त कल्पना नहीं है। धर्म तो है प्रत्यक्ष व्यवहार। धर्म कोई विचार नहीं। धर्म तो है अनुभूति। जिन बातों से हमें दुख होता है, वे बातें हमसे दूसरों के प्रति न हों ऐसी चित्त-दिशा में प्रतिष्ठा ही धर्म है।

37. धर्म को मुंह में मत रखो। उसे भी पेट में जाने दो और खून बनने दो। रोटी के टुकड़े को मुंह में रखे रहने से पेट नहीं भरता है।

38. मैं विचार का स्वतंत्र दीपक जलाने को कहता हूं। विचार की दृष्टि से किसी के दास मत बनो। सत्य उनका है जो अपने स्वामी हैं।

40. जीवन तो बांसुरी की भांति है--भीतर खाली और रिक्त लेकिन संगीत की अनंत सुप्त संभावनाओं को लिए हुए। जो जितना उसे बजाता है, उतना ही संगीत उससे पैदा होता है।

41. मैं दूसरों में विश्वास करने को नहीं कहता हूं क्योंकि वह स्वयं में विश्वास के अभाव का परिणाम है।

42. एक ऐसी अग्नि भी है, जो दीखती नहीं, लेकिन निरंतर स्वयं को जलाती रहती है। वह अग्नि है तृष्णा की। तृष्णा ऐसे ही जलाती है जैसे कोई जलती हुई मशाल को आंधियों के विरोध में लिए खड़ा हो और स्वयं ही उससे झुलस जाए। और फिर दोष दे आंधियों को!

43. एक छोटा सा दिया वर्षों से घिरे अंधकार को नष्ट कर देता है, ऐसे ही आत्म बोध की एक छोटी सी किरण भी जीवन में घिरे जन्म-जन्मों के अज्ञान को नष्ट कर देती है।

44. सेवा करना चाहते हैं? लेकिन स्मरण रखना कि सागर में स्वयं ही डूबता हुआ व्यक्ति किसी दूसरे डूबते हुए व्यक्ति को नहीं बचा सकता है।

45. मित्र, ईश्वर को जानना है तो मौन मार्ग है। ईश्वर के संबंध में जो भी कहा जाएगा वह इसी कारण असत्य हो जाएगा कि कहा गया है!

46. मनुष्य एक यात्रा है--अनंत के लिए यात्रा। नीत्शे ने कहा हैः "मनुष्य की महत्ता यही है कि वह सेतु है,

अंत नहीं।" मैं भी यही कहता हूं।

47. मित्र, स्वयं को अनुशासन में मत बांधो। वास्तविक अनुशासन, बंधनों से नहीं, वरन विवेक के जागरण और मुक्ति से आता है।

48. शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में जो छिपा हो उसे बाहर लाना है। वह बाह्य आदर्श या आदेश नहीं, किंतु अंतस का आविष्कार है।

49. मैं उस शिक्षा के विरोध में हूं जो व्यक्तियों को किन्हीं निर्धारित आदर्श के ढांचों में ढालती हो। वैसी शिक्षा से व्यक्तित्व विकसित नहीं, कुंठित ही होते हैं। भय पर आधारित शिक्षा के भी मैं पक्ष में नहीं हूं फिर वह भय चाहे दंड का हो या प्रलोभन का। भय से अधिक विषाक्त और क्या हो सकता है? और आरोपित अनुशासन की भी मैं निंदा करता हूं क्योंकि वह दासता के लिए तैयारी से ज्यादा और क्या है?

50. महानता से सरल और कुछ नहीं, वस्तुतः सरलता ही महानता है।

51. एक सत्य सदा स्मरण रखनाः दूसरों को दिया गया धोखा अंत में स्वयं को ही दिया गया धोखा सिद्ध होता है। ... क्योंकि हम जो दूसरों के साथ करते हैं, अंततोगत्वा वह हम पर ही लौट आता है।

52. क्या आपको ज्ञात है कि कभी भी किसी मनुष्य को दूसरों के द्वारा इतना धोखा नहीं दिया गया है जितना कि प्रत्येक स्वयं को ही देता है।

53. प्रकाश सीधी रेखा में गति करता है। सत्य और धर्म भी सीधी रेखाओं में ही गति करते हैं। तुम्हारे जीवन की गति रेखा यदि सीधी न हो तो जानना कि तुम्हारा जीवन अंधकार, अधर्म और असत्य के पथ पर है।

54. धर्म तो मार्ग है, और मार्ग मात्र जानने से नहीं, चलने से तय होता है।

55. सत्य, असत्य का विरोधी नहीं है। असत्य का विरोधी भी असत्य ही होता है। वस्तुतः सभी अतियां असत्य हैं। सत्य तो अतियों के मध्य में अर्थात अतियों के अतीत होता है।

56. सत्य को--स्वयं को खोजने में गुजारा गया समय और व्यय किया गया श्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता, अंततः तो केवल वही बचाया हुआ समय और सार्थक हुआ श्रम सिद्ध होता है।

57. असत्य को मैंने फूस के ढेर की भांति जाना। उसमें शक्ति तो है ही नहींः सत्य की छोटी सी चिनगारी भी उसे भस्म कर देती है।

58. धर्म के लिए सबसे बड़ा आदर जो हम प्रकट कर सकते हैं... वह है कि हम उसका उपयोग करें और उसे जीए। जो मात्र उसका विचार करता है और जीता नहीं, वह स्वयं ही अपने विचार पर अविश्वस प्रकट करता है।

60. धर्म का लक्ष्य क्या है? पुरुष में सोए पुरुषोत्तम को जाग्रत करना। बस यही और यही धर्म का लक्ष्य है।

61. जीवन कोई ऐसी समस्या नहीं है, जिसका कि उसके बाहर कोई हल खोजना है। जीवन का हल तो पूर्णता से जीने में ही मिल जाता है।

62. सबसे बड़ी मुक्ति है स्वयं को स्वयं मुक्त करना। साधारणतः हम भूले ही रहते हैं कि स्वयं पर हम स्वयं ही सबसे बड़ा बोझ और बंधन हैं।

63. मनुष्य को मनुष्यता बनी बनाई प्राप्त नहीं होती। उसे तो स्वयं ही निर्मित करना होता है। यही सौभाग्य भी है और यही दुर्भाग्य; सौभाग्य क्योंकि स्वयं के सृजन की स्वतंत्रता है और दुर्भाग्य क्योंकि स्वयं को बिना निर्मित किए समाप्त हो जाने की संभावना भी है।

64. स्वयं के "मैं" को ठीक से जानना--उसकी पूर्णता में--उससे मुक्त हो जाना भी है। अहंकार, अंधकार की उत्पत्ति है। प्रकाश के आते ही उसका न हो जाना सुनिश्चित है।

65. मनुष्य को विकास करके ईश्वर नहीं होना है। वह यदि स्वयं को पूरी तरह उघाड़ ले तो अभी और यहीं ईश्वर है। मेरी दृष्टि में स्वयं का संपूर्ण आविष्कार ही एकमात्र विकास है।

66. मनुष्य का संघर्ष किससे है? स्वयं के "मैं" से। जो क्रांति करनी है, वह स्वयं के ही अहंकार से करनी है। अहंकार से घिरा होना ही संसार में होना है, और जो अहंकार के बाहर है वही परमात्मा में है--वस्तुतः वह परमात्मा ही है।

67. "मैं" से भागने की कोशिश मत करना। उससे भागना हो ही नहीं सकता, क्योंकि भागने में भी वह साथ ही है। उससे भागना नहीं, वरन समग्र शक्ति से उसमें प्रवेश करना है। स्वयं की अहंता में जो जितना गहरा जाता है, उतना हीर पाता है कि अहंता की तो कोई वास्तविकता सत्ता ही नहीं है।

68. परमात्मा का प्रमाण पूछते हो? क्या चेतना का अस्तित्व पर्याप्त प्रमाण नहीं है? क्या जल की बूंद ही समस्त सागरों को सिद्ध नहीं कर देती है?

69. यह मत कहो कि मैं प्रार्थना में था, क्योंकि उसका अर्थ है कि आप प्रार्थना के बाहर भी होते हो। जो प्रार्थना के बाहर भी होता है, वह प्रार्थना में नहीं हो सकता। प्रार्थना क्रिया नहीं है। प्रार्थना तो प्रेम की परिपूर्णता है।

70. जीवन की खोज में आत्म-तुष्टि से घातक और कुछ नहीं। जो स्वयं से संतुष्ट हैं, वे एक अर्थ में जीवित ही नहीं हैं। स्वयं से जो असंतुष्ट है वही सत्य की दिशा में गति करता है। स्मरण रखना कि आत्मा तुष्टि से निरंतर ही विद्रोह में होना धार्मिक होना है।

71. मृत्यु से घबड़ा कर तो तुमने कहीं ईश्वर का आविष्कार नहीं कर लिया है? भय पर आधारित ईश्वर से असत्य और कुछ भी नहीं है।

72. जो सदा वर्तमान में है, वही सत्य है। निकटतम जो है, वही अंतिम सत्य है। दूर को नहीं, निकट को जानो, क्योंकि जो निकट को ही नहीं जानता है, वह दूर को कैसे जानेगा? और जो निकट को जान लेता है, उसके लिए दूर शेष ही नहीं रह जाता है।

73. "मैं" कौन हूं?" पूछो--स्वयं से पूछो। "मैं कहां हूं?" खोजो--स्वयं में खोजो। जब तुम कहीं भी स्वयं को नहीं पा सकोगे तो जान जाओगे कि तुम कौन हो। मैं की अनुपलब्धि में ही "मैं" का रहस्य छिपा हुआ है।

74. सत्य यदि ज्ञात नहीं है, तो शास्त्र व्यर्थ हैं और यदि सत्य ज्ञात है तो भी शास्त्र व्यर्थ हैं।

75. सत्य की जिज्ञासा कर रहे हो और मन पर धूल इकट्ठी करते जाते हो? मन तो दर्पण की भांति है, उसे साफ करो और तुम पाओगे कि सत्य तो समक्ष है--और सदा से ही समक्ष है।

76. एक भ्रम को मिटाने को दूसरा भ्रम पैदा मत करो। एक स्वप्न तोड़ने को दूसरे स्वप्न में जाना उचित नहीं है। ईश्वर की कल्पना मत करो; सब कल्पनाएं छोड़ कर देखो। जो समक्ष पाओगे वही ईश्वर है।

77. मैं नदी में स्नान करने को जाता हूं तो वस्त्र तट पर छोड़ देने होते हैं। परमात्मा में स्नान करने की जिसकी अभीप्सा है, उसे भी अपने सारे वस्त्र तट पर ही छोड़ने होंगे--सारे वस्त्र, सारे ओढ़े हुए व्यक्तित्व। उस परम सागर में तो वे ही प्रवेश पाते हैं जो कि बिल्कुल ही नग्न हैं--जिनके पास छोड़ने को अब कुछ भी शेष नहीं रहा है। किंतु, धन्य हैं वे जो सब छोड़ सकते हैं, क्योंकि इस भांति वे वह पा लेते हैं जो कि सबके जोड़ से भी अधिक है।

78. शास्त्र और सिद्धांत तो सूखे पत्तों की भांति हैं। स्वानुभूति की हरियाली न उनमें है, न हो सकती है। हरे पत्ते और जीवित फूल तो स्वयं के जीवन वृक्ष में ही लगते हैं।

79. मैं खोजता था तो मौन से बड़ा कोई शास्त्र नहीं पा सका। और सब शास्त्र खोजे तो पाया कि शास्त्र व्यर्थ हैं, और मौन ही सार्थक है।

80. कहां जा रहे हो? जिसे खोजते हो, वह दूर नहीं निकट है। और जो निकट है, उसे पाने को यात्रा यदि की तो उसके पास नहीं, उससे दूर ही निकल जाओगे। ठहरो और देखो। निकट को पाने के लिए ठहर कर देखना ही पर्याप्त है।

81. मुक्ति न तो प्रार्थना से पाई जाती है, न पूजा से, न धर्म सिद्धांतों में विश्वासों से। मुक्ति तो पाई जाती है अमूर्च्छित जीवन से। इसलिए मैं कहता हूं कि प्रत्येक विचार और प्रत्येक कर्म में अमूर्च्छित होना ही प्रार्थना है, पूजा है और साधना है।

82. उसे सोचो जिसे कि तुम सोच ही नहीं सकते हो और तुम सोचने के बाहर हो जाओगे। सोचने के बाहर हो जाना ही स्वयं में आ जाना हैं।

83. जीवन के विरोध में निर्वाण मत खोजो। वरन जीवन को ही निर्वाण बनाने में लग जाओ। जो जानते हैं, वे यही करते हैं। दो... जेन के प्यारे शब्द हैं: "मोक्ष के लिए कर्म मत करो, बल्कि समस्त कर्मों को ही मौका दो कि वे मुक्तिदायी बन जाएं।" यह हो जाता है, ऐसा मैं अपने अनुभव से कहता हूं और जिस दिन यह संभव होता है उस दिन जीवन एक पूरे खिले हुए फूल की भांति सुंदर हो जाता है और सुवास से भर जाता है।

84. क्या तुम ध्यान करना चाहते हो? तो ध्यान रखना कि ध्यान में न तो तुम्हारे सामने कुछ हो, न पीछे कुछ हो। अतीत को मिट जाने दो और भविष्य को भी। स्मृति और कल्पना--दोनों को शून्य होने दो। फिर न तो समय होगा और न आकाश ही होगा। उस क्षण जब कुछ भी नहीं होता है, तभी जानना कि तुम ध्यान में हो। महामृत्यु का यह क्षण ही नित्य जीवन का क्षण भी है।

85. ध्यान के लिए पूछते हो कि क्या करें? कुछ भी न करो... बस शांति से श्वास-प्रश्वास के प्रति जागो। होशपूर्वक श्वास पथ को देखो। श्वास के आने जाने के साक्षी रहो। यह कोई श्रमपूर्ण चेष्टा न हो वरन शांत और शिथिल--विश्रामपूर्ण बोध मात्र हो। और फिर तुम्हारे अनजाने ही, सहज और स्वाभाविक रूप से, एक अत्यंत प्रसादपूर्ण स्थिति में तुम्हारा प्रवेश होगा। इसका भी पता नहीं चलेगा कि कब तुम प्रविष्ट हो गए हो। अचानक ही तुम अनुभव करोगे कि तुम वहां हो जहां कि कभी नहीं थे। और यह वही स्थल है जहां कि चेतना वस्तुतः सदा से है।

86. मैं, जो सीखा था, उसे भूला, तब उसे पा सका जो कि अकेला ही सीखने योग्य है, लेकिन सीखा नहीं जा सकता है। क्या सत्य को पाने के लिए, सत्य के संबंध में जो सीखा है, उसे भूलने की तुम्हारी तैयारी है? यदि हां, तो आओ सत्य के द्वार तुम्हारे लिए खुले हुए हैं।

87. सत्य जाना तो जा सकता है लेकिन न तो समझा जा सकता है और न समझाया ही जा सकता है।

88. सत्य आकाश की भांति है--अनादि और अनंत और असीम। क्या आकाश में प्रवेश का कोई द्वार है? तब सत्य में भी कैसे हो सकता है। पर यदि हमारी आंखें ही बंद हों तो आकाश नहीं है और ऐसा ही सत्य के संबंध में भी है। आंखों का खुला होना ही द्वार है और आंखों का बंद होना ही द्वार का बंद होना है।

89. समाधि में क्या जाना जाता है, कुछ भी नहीं। जहां तक जानने को कुछ भी शेष है, वहां तक समाधि नहीं है। समाधि सत्ता के साथ एकता है--जानने जितनी दूरी भी वहां नहीं है!

90. संसार में संसार के न होकर रहना संन्यास है। पर बहुत बार संन्यास का अर्थ उन तीन बंदरों की भांति लगा लिया जाता है जो कि बुरे दृश्यों से बचने के लिए आंख बंद किय हैं, और बुरी ध्वनियों से बचने के लिए कान और बुरी वाणी से बचने के लिए मुख। बंदरों के लिए तो यह क्षम्य है लेकिन मनुष्यों के लिए अत्यंत हास्यास्पद। भय के कारण संसार से पलायन मुक्ति नहीं, वरन एक अत्यंत सूक्ष्म और गहरा बंधन है। संसार से भागना नहीं, स्वयं के प्रति जागना है। भागने में भय है, जागने में अभय की अपलब्धि। ज्ञान से प्राप्त अभय के अतिरिक्त और कुछ भी मुक्त नहीं करना है।

91. क्या निर्वाण और मोक्ष को भी चाहा जा सकता है? निर्वाण को चाहने से अधिक असंभव बात और कोई नहीं है क्योंकि जहां कोई चाह नहीं है, वहीं निर्वाण है। चाह ही अमुक्ति है तो मोक्ष कैसे चाहा जा सकता है? किंतु मोक्ष को चाहने वाले व्यक्ति भी हैं और तब स्वाभाविक ही है कि उनका तथाकथित संन्यास भी बंधन का एक रूप हो और संसार का ही एक अंग। निर्वाण तो उस समय सहज ही, अनचाहा ही, अनपेक्षित ही उपलब्ध होता है, जब कि चाह की व्यर्थता को उसके दुख स्वरूप और बंधन को उनके समस्त सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपों में जान और पहचान लिया जाता है। चाह की व्यर्थ दौड़ के दर्शन होते ही वह दौड़ चली जाती है। उसका संपूर्ण ज्ञान ही उससे मुक्ति है। और तब जो शेष रह जाता है, वही निर्वाण है।

92. हम दुखी हैं। हमारा युग दुखी है। कारण क्या है? कारण है कि हम जानते तो बहुत हैं, लेकिन अनुभव कुछ भी नहीं करते हैं। मनुष्य में मस्तिष्क ही मस्तिकष्क रह गया है और हृदय विलीन हो गया है। जब कि वास्तविक ज्ञान मात्र जानने से नहीं, वरन अनुभव करने से प्राप्त होता है और वे आंखें जो कि जीवन पथ को आलोकित करती हैं। मस्तिष्क की नहीं, हृदय की होती हैं। हृदय अंधा हो तो जीवन में अंधकार बिल्कुल ही स्वाभाविक है।

93. बुद्धि में अर्थ हो सकता है, अनुभूति नहीं। अनुभूति तो प्राणों के प्राण हृदय में होती है। और अनुभूतिशून्य अर्थ मृत होता है। ऐसे मृत अर्थ और शब्द ही हमारे मस्तिष्कों में गूंज रहे हैं और उनके बोझ से हम पीड़ित हैं। वे हमें मुक्त नहीं करते हैं, वरन वे ही हमारे बंधन हैं। निर्भार और मुक्त होने के लिए तो हृदय की अनुभूति चाहिए। इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य का अर्थ और सत्य की व्याख्या मत खोजो। खोलो सत्य की अनुभूति और जीवन। सत्य में डूबो और स्मरण रखो कि जो अशेष भाव से सत्य में डूबते हैं वे ही असत्य से उबर पाते हैं। बुद्धि ऊपर तैराती है लेकिन हृदय तो पूरा ही डुबा देता है। बुद्धि नहीं, हृदय ही मार्ग है।

94. सत्य के अनुभव और सत्य के संबंध मे दिए गए वक्तव्यों में बहुत भेद है। वक्तव्य में हम वक्तव्य के बाहर होते हैं, लेकिन अनुभव में, अनुभव के भीतर और अनुभव से एक। इसीलिए जिन्हें अनुभव है, उन्हें वक्तव्य देना असंभव ही हो जाता है। वक्तव्य की संभावना अनुभव के अभाव की धोतक है। लोग मुझसे पूछते हैंः "सत्य क्या ह?" मौन रह जाने के सिवाय मैं और क्या कह सकता हूं?

95. ज्ञान, रहस्य की समाप्ति नहीं है। वस्तुतः, ज्ञान के साथ ही रहस्य का संपूर्ण उदघाटन होता है। और फिर तो सिर्फ रहस्य का संपूर्ण उदघाटन होता है। और फिर तो सिर्फ रहस्य ही रहस्य रह जाता है। ज्ञान है, रहस्य का बोध, रहस्य की स्वीकृति, रहस्य से मिलन, रहस्य के साथ आनंदमग्न जीवन, रहस्य से, रहस्य में और रहस्य के द्वारा। जहां स्व तो मिट जाता है और मात्र रहस्य ही रह जाता है, जानना कि परमात्मा की पवित्र भूमि में प्रवेश हो गया है। और यह भी जानना कि स्व के मिट जाने से बड़ा कोई रहस्य नहीं है, क्योंकि स्व तो मिट जाता है लेकिन साथ ही स्वयं की सत्ता अपनी परिपूर्ण गरिमा में प्रकट भी हो जाती है।

95. यह सत्य है कि मनुष्य अब पशु नहीं है, लेकिन क्या यह भी सत्य है कि मनुष्य मनुष्य हो गया है? पशु होना अतीत की घटना हो गई है पर मनुष्य होना अभी भविष्य की संभावना है। शायद हम मध्य में हैं और यही हमारी पीड़ा है, यही हमारा तनाव है, यही हमारा संताप है। जो प्रयास करते हैं और स्वयं के इस पीड़ा अस्तित्व से असंतुष्ट होते हैं, वे ही मनुष्य हो पाते हैं। मनुष्यता मिली हुई नहीं है, उसे हमें स्वयं ही स्वयं में जन्म देना होता है। लेकिन मनुष्य होने के लिए यह अतिआवश्यक है कि हम पशु न होने को ही मनुष्य होना न समझ लें, और जो हैं उससे तुष्ट न हो जावें। स्वयं से गहरा और तीव्र असंतोष ही विकास बनता है।

96. मैं तथाकथित शिक्षा से कितना पीड़ित हुआ हूं, कैसे बताऊं? सिखाया हुआ ज्ञान, विचार की शक्ति को तो नष्ट ही कर देता है। विचारों की भीड़ में विचार की शक्ति तो दब ही जाती है। स्मृति प्रशिक्षित हो जाती है और ज्ञान के स्त्रोत अपरिचित ही रह जाते। फिर यह प्रशिक्षित स्मृति ही ज्ञान का भ्रम देने लगती है। इस तथाकथित शिक्षा में शिक्षित व्यक्ति को नये सिरे से ही विचार करना सीखना होता है। उसे फिर से अशिक्षित होना पड़ता है। यही मुझे भी करना पड़ा और यह कार्य अति कठिन था। वस्त्र उतार कर रखने जैसा नहीं, वरन स्वयं की चमड़ी उतार कर रखने जैसी कठिनाई थी। पर वह जरूरी था। उसके बिना कोई राह ही नहीं थी। अपने ही ढंग से जीवन को देखने के लिए आवश्यक था कि जो मैं सीखा हूं और सिखाया गया हूं, उसे भूल जाऊं। अपनी ही दृष्टि पाने के लिए दूसरों की दृष्टियां विस्मृत करनी आवश्यक थीं। स्वयं के विचार को पाने के लिए औरों के विचार से मुक्त होना जरूरी है। जिसे अपने पैरों से चलना सीखना हो, उसे दूसरे के कंधे का सहारा छोड़ ही देना चाहिए। स्वयं की आंख तभी खुलती हैं जब हम दूसरों की आंखों से देखना बंद कर देते हैं; और स्मरण रहे कि दूसरों की आंखों से देखने वाला व्यक्ति अंधे व्यक्ति अंधे व्यक्ति से भी ज्यादा अंधा होता है।

97. जीवन में जो भी गति है, जो भी विकास है, जो भी ऊंचाइयों का स्पर्श है, वह सब दुस्साहस से आता है। दुस्साहस का अर्थ है असुरक्षा को आमंत्रण, अपरिचित और अज्ञात से प्रेम, जोखिम का आनंद। खतरे उठाने की और खतरों से प्रेम करने की जिसकी तैयारी नहीं है, वह जीता है लेकिन जीवन को नहीं पाता है और सबसे बड़ा दुस्साहस क्या है? परमात्मा की दिशा से अधिक असुरिक्षत और कौन सी दिशा है? क्योंकि, परमात्मा से अधिक अपरिचित, अज्ञात और अज्ञेय क्या है? क्योंकि परमात्मा की खोज से बड़ा दांव, जुआ और जोखिम कौन सी है? इससे मैं कहता हूं कि दुस्साहस सबसे बड़ा धार्मिक गुण है। जिसमें दुस्साहस नहीं है, वह धर्म के लिए नहीं है, और धर्म उसके लिए नहीं है।

98. सत्यानुभूति न तो विचार है, न ही भावना। वह तो समस्त प्राणों का--तुम्हारी समस्त सत्ता का आंदोलित और स्पंदित हो उठना है। वह तुममें नहीं होती, वरन तुम ही उसमें होते हो। वह तो तुम्हारा स्वरूप है। वह अनुभव ही नहीं, स्वयं तुम ही हो। और मात्र तुम ही नहीं हो, तुमसे भी ज्यादा वह है क्योंकि उसमें सर्व की सत्ता भी समाहित है।

100. क्या तुम इतने दरिद्र हो कि धर्म भी तुम्हारे पास नहीं? धन की दरिद्रता बहुत बड़ी बात नहीं है। असली दरिद्रता तो धर्म की दरिद्रता है। धन रहते भी लोग दरिद्र बने रहते हैं लेकिन जिसके पास धर्म की संपदा होती है, उसकी दरिद्रता सदा सदा के लिए नष्ट हो जाती है। मनुष्य के जीवन में--पूरी मनुष्यता के जीवन में भी सबसे बड़ी घटना उसकी आधिभौतिक सफलताएं या साम्राज्यों का निर्माण नहीं है, बल्कि उस संपदा की खोज और उपलब्धि है जो कि उसके ही भीतर छिपी है। उस संपदा को ही मैं धर्म कहता हूं। जो संपदा बाहर है, वह धन है और जो संपदा भीतर, है, वह धर्म है। धन को चुनने वाले अंततः दरिद्रता को, और धर्म को चुनने वाले अंततः वास्तविक धन को चुनने वाले सिद्ध होते हैं।

101. एक घर में गया था। वहां वीणा रखी थी। मैंने कहा मनुष्य का मन भी वीणा की भांति है। वह तो साधन है। उससे संगीत और विसंगीत दोनों ही पैदा हो सकते हैं। और जो भी हम उससे पैदा करेंगे, उसकी जिम्मेवारी हमारे अतिरिक्त और किसी पर नहीं होगी। अपने मन को संगीत का साधन बनाएं और सत्य का। उसे स्वतंत्र रखें और सच्चा। और अहंकार से मुक्त रखें क्योंकि अहंकार से अधिक विसंगीत पैदा पहुंचता है जो स्वयं के भीतर संगीतपूर्ण होता है। मात्र बुद्धिमान नहीं बल्कि समग्ररूपेण जिसका व्यक्तित्व संगीतपूर्ण है, वे ही सत्य के सर्वाधिक निकट पहुंचते हैं।

102. मैं तुम्हें मंत्रों को दुहराते देखता हूं, कंठस्थ शब्दों और शास्त्रों की पुनरुक्ति करते देखता हूं तो मेरा हृदय दया और सहानुभूति से भर जाता है। यह तुम क्या कर रहे हो? क्या अपने को भुलाने और विस्मरण करने और आत्म सम्मोहन के द्वारा निद्रा में जान को ही तुमने धर्म और साधना समझ लिया है? निश्चय ही मंत्रों का उच्चार और शब्दों का जप चित्त को सुखद निद्रा में सुलाने में समर्थ है लेकिन निद्रा को समाधि मत समझ लेना। मित्र, सुषुप्ति और समाधि में बहुत भेद है। आत्म सम्मोहन जनित सुषुप्ति में अनुभव भी घटित होते हैं लेकिन वे सब स्वप्नों से ज्यादा नहीं हैं और उन्हें हमारा मन ही प्रक्षिप्त करता है। फिर ये स्वप्न चाहे कितने ही सुखद और संतुष्टिदायी हों, सुख और संतोष के कारण वे सत्य नहीं हो जाते हैं। पर साधारणतः हम सत्य को नहीं, संतोष को ही खोजते हैं और इसलिए किसी भी भ्रम में हमारा उलझ जाना बहुत आसान है। संतोष को खोजने वाला मन किसी भी रूप से पैदा हुई मादकता से तृप्त हो सकता है... किसी भी भांति का आत्म-विस्मरण उसे तृप्ति दे सकता है। और तथाकथित मंत्र, जप और एकाग्रताओं के द्वारा आत्म-विस्मरण संभव हो जाता है। किसी भी भांति की सतत पुनरुक्ति चेतना को मूर्च्छित करती है। जब कि धर्म का संबंध मूर्च्छा से नहीं, अमूर्च्छा से है। आत्म विस्मरण से नहीं, परिपूर्ण आत्म-स्मरण और जागरण से है।

103. अहंकार के अतिरिक्त और कोई नरक नहीं है। कहा गया है कि नरक में अहंकार ही चलता है। अहंकार को दूर करो तो फिर कोई नरक नहीं है।

104. मैं तुम्हारे लिए सत्य की यात्रा नहीं कर सकता हूं। न ही कोई दूसरा ही कर सकताŸ है। वह यात्रा तो तुम्हें स्वयं ही करनी होगी। इसे ठीक से जान लो, अन्यथा जीवन का बहुत सा समय व्यर्थ ही व्यय हो जाता है। जीवन के अंधकारपूर्ण पथ पर स्वयं के प्रज्वलित बोध के अतिरिक्त और कोई प्रकाश नहीं है। तुम ही तुम्हारे लिए अंधकार हो और तुम ही तुम्हारे लिए प्रकाश हो सकते हो। कोई दूसरा तुम्हारे लिए अंधकार नहीं है, और इसलिए कोई दूसरा प्रकाश कैसे हो सकता है?

105. सत्य को पाने के लिए स्वयं को खोने को सूत्र सीखो। स्वयं को खोए बिना सत्य नहीं पाया जा सकता। क्योंकि स्वयं को होना है बीज की भांति और बीज जब मिटता है, तभी सत्य का अंकुर जन्मता है। जीवन के लिए मरना सीखना ही होता है।

106. क्या आनंद की खोज में हो? तो दूसरों को आनंद दो। जगत तो एक प्रतिध्वनि मात्र है। हम जो करते हैं, वही हमारे पास वापस लौट आता है। जो दूसरों को आशीष देता है उस पर आशीषों की वर्षा होने लगती है, और जो गालियां, उस पर गालियों की, पत्थरों के उत्तर में पत्थर ही लौटते हैं, प्रेम नहीं, और जो दूसरों के लिए कांटे बोता है, उसे स्वयं के लिए भी कांटों की ही फसल काटने को तैयार रहना होगा। घृणा घृणा को आमंत्रित करती है, प्रेम प्रेम को। यही शाश्वत नियम है।

107. ज्ञान मिथ्या है, यदि वह विनम्र नहीं। क्योंकि विनम्रता के अभाव में ज्ञान का अविर्भाव ही नहीं होता; ज्ञान के साथ अहंकार, इस बात की घोषणा है कि ऐसा ज्ञान उधार है।

108. पाप क्या है? स्वयं के ईश्वरत्व से अस्वीकार। स्मरण रहे कि स्वयं की दिव्यता की स्मृति के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है।

109. ईश्वर को खोजना व्यर्थ है। उचित है कि जीओ। जीवन में उसे प्रकट करो। जो उसे श्वास-प्रश्वास की भांति जीता है, वही उसे पाता है।

110. मृत्यु को जीतना है तो मृत्यु से गुजरना पड़ता है। मन के प्रति जो मर जाता है, वह मृत्यु को जीत, अमृत को पा लेता है।

111. सत्य को पाना है और शास्त्रों को खोजते हो? इससे अधिक पागलपन और क्या होगा? सत्य से तो शास्त्रों का जन्म हो सकता है किंतु शास्त्रों से सत्य का जन्म कभी नहीं हुआ। शास्त्रों में नहीं, वह तो स्वयं में है। लेकिन जीवित हृदय में तो अंधकार है और मृत शब्दों में उसे खोजा जाता है।

112. अंधकार भीतर है तो बाहर कोई प्रकाश नहीं है।

113. जीवन एक है--समग्र जीवन एक है। यह अनुभव ही प्रेम है।

114. अज्ञान कहां है? अहंकार में अज्ञान है। और इस अहंकार में ही वासना की जड़ें हैं।

115. वासना में दुख है, क्योंकि वासना दुष्पूर है।

116. मनुष्य जो भी चाहता है, और जिसकी भी कामना करता है, उससे उसे शांति नहीं मिल सकती, क्योंकि इस भांति जो भी पाया जा सकता है, वह क्षणभंगुर होता है। जो मन कामना करता है, वही जब क्षणजीवी है, तो उसके काम्य चिरजीवी कैसे होंगे?

117. सत्य को, नित्य को, शाश्वत को पाने का द्वार कामना नहीं है। तृष्णा नहीं है। वासना नहीं है। वस्तुतः, मन ही उसे पाने को मार्ग नहीं है। वह तो वहीं है, जहां मन नहीं है।

118. क्या प्रभु की वाणी सुनना चाहते हो? तो संसार के प्रति बहरे हो जाओ। संसार के प्रति जो बहरे है, वे ही उसे सुनते हैं, और जो अंधे हैं, वे ही उसे देखते हैं और जो लूले लंगड़े हैं, वे ही उसमें गति करते हैं।

119. वासना के पीछे दौड़ना एक मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ते रहना है। वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु की यात्रा है। जीवन के भ्रम में इस भांति मनुष्य बार बार मरता है। लेकिन जो वासना के प्रति मरने को राजीहो जाते हैं, वे पाते हैं कि उकसे लिए स्वयं मृत्यु ही मर गई है।

120. जीवन केवल उकने लिए ही है, जो कि जीवन के प्रति मरना जानते हैं।

121. एक दिन था कि मृत्यु मेरी प्रतीक्षा करती थी। मैं भयभीत था तो उसे मेरी प्रतीक्षा थी। फिर मैं अलिंगन करने को बढ़ा तो पाया कि वह है ही नहीं। मृत्यु के भय में ही मृत्यु है। उसका स्वीकार तो मुक्ति बन गया। भय है मृत्यु। और अभय है मोक्ष। मृत्यु उनका पीछा करती है, जो उससे भागते हैं। वह हमारी छाया की ही भांति है। और जो रुक कर और लौट कर उसका साक्षात करते हैं, उनके लिए वह विलीन हो जाती। मृत्यु के पूर्व ही मृत्यु को अंगीकार करना मृत्यु से मुक्त हो जाना है।

122. मैं सागर के किनारे खड़ा था। मन में प्रश्न उठा कि सारी नदियां सागर में ही क्यों गिरती हैं? निश्चय ही सागर उन सबसे नीचा है, इसलिए ही। और यह विचार एक आलोक की भांति मेरी अंतरात्मा पर फैल गया। धन्य हैं वे जो विनम्र हैं, क्योंकि परमात्मा अपनी संपदा से उन्हें परिपूरित कर देता है।

123. परमात्मा को पाने के लिए शुभ और अशुभ दोनों का अतिक्रमण करना होता है। क्योंकि तभी चेतना भेद से उठती और अभेद में प्रतिष्ठित होती है।

124. मित्र, अशुभ को छोड़ा है शुभ को भी छोड़ दो। क्योंकि जहां तक किसी पर भी पकड़ है, वहां तक अहंकार है।

125. आंखें खोलो और देखो। क्या जो भी दिखाई पड़ता है, वह सब परिवर्तन नहीं है? आंखें जो भी देख सकती हैं, क्या वह सब बहाव ही नहीं है और इस बहती नदी पर जो अपना भवन बनाता है क्या वह होश में है?

126. शरीर तो मंदिर है। उससे लड़ो नहीं, उसमें खोजो। उससे होकर ही जो परमात्मा तक पहुंचा जाता है। परमात्मा का जिसमें वास है, क्या वह इस कारण ही पवित्र नहीं? शरीर तो एक तीर्थ है। उसकी शक्तियों को जो आत्मोन्मुखी करने में समर्थ होता है, वह उसके प्रति अत्यंत कृतज्ञता से भर जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

127. मैं भोर में फूलों के पास था। ओस की बूंदें फूलों पर उतर रही थीं। उनके पद चाप भी तो सुनाई नहीं पड़ते थे। कितनी शांति से, कितने मौन से और कितनी प्रीति से वे फूलों पर उतर रही थीं। हृदय जब तैयार होता है तो ऐसे ही परमात्मा भी उतरता है। उसके आगमन का भी पता नहीं लगता। उसके आ जाने पर ही जाना जाता है कि वह आ गया है।

128. मैं पहाड़ों पर था। पहाड़ों को जो भी कहना था, वे मुझसे मौन में कहते थे। वृक्षों को जो कहना था, वे भी मौन में कहते थे। और नदियों और झरने और चांद और तारे सभी की वाणी मौन थीं। फिर मैं समझ गया। परमात्मा का इशारा स्पष्ट था। और मैं भी मौन हो गया और मौन होते ही पाया कि परमात्मा बोल रहा है। वह तो पहले भी बोल रहा था लेकिन मौन हुए बिना मैं स्वयं उसे सुनने में समर्थ नहीं था।

129. मैं क्या कहूं? आकाश में तारे हैं, उन्हें देखो। वे क्या कह रहे हैं? मौन में झरता उनका प्रकाश जो कह रहा है, वही तो मैं कहना चाहता हूं। कहना चाहता हूं कि जो है, वह कहने सुनने के अतीत है।

130. मैं अति दरिद्र हूं क्योंकि मेरे पास अपना भी नहीं। मैं भी अपना नहीं हूं तो और क्या मेरा होगा? जो है, परमात्मा का है, सब परमात्मा है। लेकिन जिस क्षण अपनी यह दरिद्रता जानी उसी दिन मेरी सारी दरिद्रता मिट गई। मैं सब सम्राट हूं क्योंकि मैं हूं ही नहीं और जो है वह परमात्मा है।

131. मित्र हैं ऐसे जो गालियां दे जाते हैं और मेरा हृदय उनका आभार मानता है, क्योंकि जब उनकी गालियों के बीच भी मैं उनके प्रति अपने प्रेम को बहता हुआ पाता हूं तो एक ऐसी अलौकिक शांति प्राणों पर छा जाती है, जो कि इस जगत की नहीं है।

132. संसार बहुत अदभुत है क्योंकि मैंने देखा कि जो जीवित हैं, वे वस्तुतः जीवित नहीं हैं। वासनाओं का जीवन, जीवन ही कहां? और मैंने जाना कि जो मृत हो गए हैं, वे भी मर नहीं गए हैं क्योंकि आत्मा की कोई मृत्यु नहीं है।

133. धर्म कहते हैं: "स्वयं को जानो"--लेकिन स्वयं की सत्ता ही कहां है? क्या "स्व" का भाव "पर" की ही छाया नहीं है? इसलिए मैं क्यों कहूं कि स्वयं को जानो? नहीं। नहीं मैं कहता हूं: "जानो। जानो। जानो उसे जो है।"

134. शरीर वृद्ध होता जाता है। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन स्मरण रहे कि कहीं मन भी तो वृद्ध नहीं हो रहा हैŸ? शरीर वृद्ध हो और मन युवा से युवा होता जावे तो ही जीवन का सम्यक विकास है। शरीर जिस दिन मृत्यु में प्रवेश करे उस दिन मन यदि बिल्कुल नवजात शिशु जैसा हो तो जीवन की यात्रा सफल हो जाती है।

135. हृदय में घृणा का विष हो तो जीवन में आनंद के फूल कैसे खिलेंगे? उनके लिए तो निरंतर ही प्रेम की अंतःधारा चाहिए। प्रेम का अमृत जहां है, वहीं आनंद के फूल हैं।

136. आनंद का द्वार तो निकट है लेकिन जो घृणा और हिंसा को पोषता है वह स्वयं ही उसकी ओर पीठ करके चलता है। फिर कोई आश्चर्य नहीं कि वह यदि स्वर्ग को खोजता हुआ भी नरक में प्रवेश कर जाता हो। जाना तो सभी स्वर्ग चाहते हैं, किंतु पहुंचना मात्र आकांक्षा से नहीं होता। अंततः निर्णायक है वह दिशा जिस ओर कि मनुष्य चलता है।

137. मैं नहीं कहता कि तुम कुछ और बनो। जो तुम बन सकते हो, वही बन जाओ। कुछ और बन जाने से बड़ी पीड़ा नहीं है। लेकिन अधिकतम लोग कुछ और ही बन जाते हैं। स्वयं को पहचानो। स्वरूप को समझो और वही हो जाओ। स्वरूप में जीना ही स्वर्ग है।

138. क्या तुम्हें ज्ञात है कि हम अक्सर ही निकट की चीजों को दूर खोजते रहते हैं? आनंद के संबंध में तो यह शत-प्रतिशत सत्य है। आनंद कहां है? इसे पहले जानो और फिर ही उसे पाया जा सकता है। वह तो वहीं पाया जा सकता है, जहां वह है, वहां नहीं जहां कि हम उसे खेजते हैं।

139. सदगुण सुख है।

140. एक आदमी सुखी था। मैंने उसका रहस्य जानना चाहा तो ज्ञात हुआ कि वह पसंद के काम की चिंता नहीं करता वरन जो भी काम करता है, उसे ही पसंद करना जानता है।

141. एक सराय में दो व्यक्ति ठहरे। सराय गंदी थी। पहला व्यक्ति जितनी देर वहां रहा, उसकी गंदगी पर कुढ़ता रहाŸ और दुखी होता रहा। दुसरे व्यक्ति ने उतने समय तक सराय की सफाई की और सफाई से सुखी हुआ। सराय वहीं थी किंतु एक दुखी और दूसरा सुखी। जीवन में सृजन से बड़ा और कोई सुख है? नहीं। सेवा से बड़ा और कोई सुख है? नहीं। सुख चाहते हो तो जीवन की सराय को जैसा पाया है उसे अपने पीछे जाने वालों के लिए और सुंदर और स्वच्छ छोड़ जाने के लिए श्रम करो। सौंदर्य के सृजन में निश्चय ही सुख है।

142. मेरे बंधु, क्या तुम्हें ज्ञात है कि तुम जो काम करते हो क्यों उससे न तुम्हें ही आनंद मिल पाता है, न किसी और को ही? उसका कारण है किसी भी कार्य को एक बोझ की भांति करना। जब कि आनंद तो वहीं कार्य लाता है जो कि आनंद से किया जाता है।

143. क्या मैं पूछ सकता हूं कि तुम किसलिए जी रहे हो? क्या तुम्हारे जीवन में ऐसा कोई लक्ष्य भी है जिसके लिए कि तुम मर भी सको? यदि नहीं तो जानो कि तुम आज ही मृत हो, क्योंकि जीने की पूर्ण ऊर्जा तो तभी जागती है जब उसे ऐसा लक्ष्य मिल जाता है, जिसके लिए कि हंसते-हंसते मरा भी जा सके। मित्र, स्मरण रहे कि मृत्यु के दांव पर ही जीवन उपलब्ध होता है।

144. एक बार कहीं मैंने कहा कि मैं सम्राट हूं, तो किसी ने पूछा कि आपका राजमुकुट कहां? मैंने कहाः "मस्तक पर नहीं, मेरे हृदय में। वह धातुओं से नहीं, धर्म से निर्मित है। और उसमें हीरों-माणिकों के पत्थर नहीं, शांति, ज्ञान और प्रेम की ज्योतियां जड़ी हुई हैं। और वह ऐसा राजमुकुट है कि उसे पाने को सम्राटों को भिखारी हो जाना पड़ता है।"

145. शरीर के और इंद्रियों के सुख कुमार फूलों की भांति हैं, जो कि छूते और तोड़ते ही नष्ट हो जाते हैं। सुख की खोज में तो शरीर और इंद्रियों से बहुत ऊपर जाना होता है।

146. मैं तुम्हें क्या भेंट दूं? क्या कोई कीमती पत्थर? नहीं। नहीं क्योंकि पत्थर आखिर पत्थर ही है। फिर कोई सुंदर फूल? नहीं। नहीं। क्योंकि फूल तो मैं दे भी नहीं पाऊंगाŸ और मुरझा जाएगा। मैं तुम्हें अपने हृदय का

प्रेम देता हूं क्योंकि इस पूरे जगत में प्रेम ही अकेला है जो कि पत्थर नहीं है और प्रेम ही ऐसा है जो कि कभी मुरझाता नहीं। प्रेम मनुष्य के हृदय में परमात्मा की सुंगध है। प्रेम मनुष्य के प्राणों में परमात्मा का संगीत है।

147. सत्य में जीना परमात्मा में जीना है। सत्य में जीना प्रेम में जीना है। लेकिन मैं क्या देखता हूं कि परमात्मा तो याद है और सत्य भूल गया है, और सत्य की बातें भी याद हैं लेकिन प्रेम का जीवन भूल गया है। अच्छा होता कि हम परमात्मा को भूल जाते और सत्य को स्मरण रखते, और अच्छा होता कि हम सत्य की बातें भी भूल जाते और प्रेम के जीवन में जीते। प्रेम हो तो सत्य अपने आप आ जाता है। और जहां सत्य है, वहां परमात्मा है।

148. क्या ही अच्छा हो कि हम इस भांति जीए जैसे कि हमारे जीवन को सारा जगत देखता हो, और इस भांति विचार करें जैसे कि एक एक विचार सारा जगत पढ़ता हो। और हमें ज्ञात हो या न हो, बहुत गहरे तल पर वस्तुतः कुछ भी छिपा नहीं है। मनुष्य समस्त से पृथक थोड़े ही है। जो उसके भीतर उठता है, उसकी गूंज अनायास ही सर्व तक पहुंच जाती है। और जैसे वह जीता है वह समस्त के जीवन का भाग हो जाता है।

149. मनुष्य वस्तुतः कृत्यों में जीता है, वर्षों में नहीं। और विचार श्वासों से भी गहरे हैं। श्वासें वर्ष लाती हैं, विचार कृत्य लाते हैं। विचारों से भी गहरे हैंः भाव हृदय की धड़कनें भी उतनी गहरी नहीं हैं। और भावों से भी गहरा एक अतल तल है। वही आत्मा है। स्वयं में जो जितना गहरे से गहरा जाता है, वह जीवन में उतना ऊंचे से ऊंचा उठ जाता है। जो वृक्ष आकाश को चूमने की अभीप्सा से प्रेरित होते हैं, उन्हें पाताल तक अपनी जड़ें पहुंचाने को तैयारी करनी होती है।

150. मैं सौंदर्य को प्रेम करता हूं, लेकिन शरीर से भी गहरे सौंदर्य के तल हैं। शरीर तो परिधि ही है। विचारों का सौंदर्य के तल हैं। शरीर तो परिधि ही है। विचारों का सौंदर्य है, भावों का सौंदर्य है और फिर निर्विचार, निर्भाव, शून्य सत्ता का परम सौंदर्य भी है। शरीर पर मत रूको। रूकना मृत्यु है। थोड़े गहरे पानी में भी चलो। सागर तट पर कंकड़ पत्थर ही हैं। मोतियों की खोज के लिए तो गहरे चलना ही पड़ता है।

151. घर घर में दर्पण है लेकिन क्या तुमने कभी देखा कि सत्य का एक छोटा सा विचार, या प्रेम की एक छोटी सी लहर, या सेवा का एक छोटा सा कृत्य आंखों को, चेहरे को, व्यक्तित्व को एक अभिनव सौंदर्य प्रदान कर जाते हैं? यदि नहीं तो तुम अंधे हो, और दर्पण के सामने व्यर्थ ही खड़े होते हो, अच्छा हो कि तुम दर्पण को तोड़ दो, क्योंकि तुम्हें उसके उपयोग का पता ही नहीं है।

152. जीवन के अंधकार पथ पर मुझे कोई न जाने, तो कोई कठिनाई नहीं, लेकिन मैं स्वयं को ही न जानूं तो क्या होगा? किंतु हम दूसरे हमें जानें, इसके लिए जितने उत्सुक और अभीप्सु होते हैं, उतने इसके लिए नहीं कि हम स्वयं को जानें। और यही तो कारण है, कि जीवन और अंधकारपूर्ण हो जाता है, क्योंकि जो स्वयं को ही नहीं जानते, उनके जीवन से आलोक कैसे विकीर्ण हो सकता है? इसलिए जो समझते हैं उनकी प्रार्थना सदा यही होती हैः मैं यदि संसार को अज्ञात, अपरिचित और अनजाना ही मर जाऊं तो मुझे स्वीकार है, लेकिन कम से कम मैं स्वयं को तो जान सकूं। वस्तुतः वह छोटा प्रकाश ही परमात्मा तक ले जाने के लिए पर्याप्त है। मित्र, स्वयं में प्रदीप्त एक छोटा सा दीया भी आकाश के अनंत सूर्यों से ज्यादा बहुमूल्य है।

153. मैं कहता हूंः "दो, दो, दो" करुणा दो, सेवा दो, प्रेम दो। क्योंकि जो जो देता है, वही वापस पाता है।

154. एक बार गंगा स्नान को गया था। स्नान से शरीर पवित्र हुआ। जल शरीर को स्वच्छ करता है। फिर मैंने साथियों से कहाः "एक और गंगा है। उसमें स्नान से आत्मा भी पवित्र हो जाती है।" वे पूछने लगेः "कौन सी गंगा?" मैंने कहाः "प्रेम की।"

155. एक मित्र दुखी थे और रो रहे थे। मैं उन्हें घर के बाहर ले गया और कहाः देखाŸे। तारों को देखो। फिर उनके आंसुओं में तारे चमकने लगे थे और उनका दुख क्रमशः विलीन हो गया था। फिर वे पूछने लगे कि तारों को देखने से मेरे हृदय का भार हलका क्यों हो गया? मैंने कहाः "परमात्मा से दूर होना दुख है। प्रकृति से दूर होना दुख है। स्व की सत्ता से दूर होना दुख है।"

156. जीवन को स्वीकार करो। वह परमात्मा का प्रसाद है। लड़ो नहीं। भागो नहीं। उसे प्रेम करो। क्योंकि प्रेम के अतिरिक्त और कोई विजय नहीं है।

157. मनुष्य जो बाहर देखता है, वह वैसा ही होता है जैसा कि वह भीतर है। आत्मा के रंग में ही सब रंगा हुआ प्रतीत होता है। भीतर आनंद दुख तो बाहर सब कुरूप। वस्तुतः मनुष्य स्वयं को ही सब जगह देखता है। इसलिए तुम यदि नरक में हो तो जानना है कि उसके कारण तुम्हीं हो, और यह भी जानना कि स्वर्ग में होना भी तुम्हारे ही हाथ में है।

158. मेरा संदेश पूछते हैं? बहुत छोटा सा हैः "जीवन में जागे हुए जीएं क्योंकि जो सोता है वह स्वयं को खो देता है।"

159. मैं जहां भी देखता हूं वहां जीवन को स्पंदित होते पाता हूं। कण कण जीवन से भरा है। अणु अणु जीवन की अभीप्सा से। देखो, जो जीवन का नृत्य है। सुनो, जो जीवन का संगीत है। और न देखो, न सुनो तो स्वयं में ही जीवन की धड़कती हुई अनुभूति है। क्या यह जीवन ही परमात्मा नहीं है? जीवन से अन्य कोई और परमात्मा निश्चित ही मृत और मिथ्या होगा। जीवन ही है सत्य। और परमात्मा दूर बैठा सृष्टा नहीं, वरन जीवन सृजन की ही सतत प्रक्रिया है। जीवन सृजनात्मकता ही परमात्मा हैŸ।

160. रोज तुम्हें मंदिर जाते देखता हूं। रोज शास्त्रों को पढ़ते भी। लेकिन प्रकृति की ओर तुम्हें कभी संवेदनशील नहीं पाया, इससे चिंता होती है। प्रकृति में जो परमात्मा को नहीं देख पा रहा है, वह कहीं और उसे कैसे देख सकेगा? प्रकृति के प्रति स्वयं को खोलो। उसके सौंदर्य को तुम्हारी आंखें बनने दो। और उसके संगीत को तुम्हारा हृदय। उस अतिथि को अपने हृदयों के हृदय में ठहराओ और किसी दिन तुम पाओगे कि वह अपरिचित अतिथि ही परमात्मा है।

161. मैं पहाड़ों में था तो मैंने पाया कि मेरी आत्मा भी उन जैसी ही ऊंची हो गई है और वे ही नहीं, मेरे चित्त के शिखर भी कभी न पिघली अछूती बर्फ से ढके हैं, और फिर मैं गहरी घाटियों में था तो पाया कि मैं भी उन जैसा ही गहरा हो गया हूं, और मेरे हृदय में भी रहस्यमय छायाओं का निवास है। और ऐसा ही सागर तट पर हुआ। उन गरजती लहरों में मैं ही था, क्योंकि वे गरजती लहरें मेरे भीतर ही थी। और जब आकाश को देखता हूं तो मैं, अनंत विस्तार हो जाता हूं और जब आकाश के तारों को, तो अनंत मौन, और पृथ्वी पर फैले फूलों को, तो अनंत सौंदर्य। और जब पक्षियों पर फैले फूलों को, तो अनंत सौंदर्य। और जब पक्षियों के गीतों को सुनता हूं तो मेरी आत्मा की ही अंतर-ध्वनि उनमें सुनाई पड़ती है, और जब पशुओं की आंखों में झांकता हूं तो पाता हूं कि वे तो मेरी ही आंखें हैं। और इस भांति क्रमशः मैं मिटता गया हूं और परमात्मा होता गया है। मैं जब परमात्मा को कहां खोजूं? कैसे खोजूं? अब तो वही है और मैं नहीं हूं।

162. क्या मैं परमात्मा की घोषणा करूं? क्या चारों और उसकी ही घोषणा नहीं हो रही है? क्या प्रकृति ही परमात्मा की घोषणा नहीं है?

163. मैं कैसे बोलूं जब कि पर्वत मौन है? मैं कैसे बोलूं जब कि आकाश मौन है? मैं कैसे बोलूं जब कि स्वयं परमात्मा मौन है? फिर भी मैं बोल रहा हूं ताकि तुम्हें उनका मौन रहूं तो तुम समझ सको। चित्रकार शुभ्र रेखाओं को उभारने के लिए काली पृष्ठभूमि का उपयोग करते हैं। ऐसा ही मैं भी कर रहा हूं। बोल रहा हूं ताकि तुम मौन को समझ सको। शब्द सार्थक हैं यदि वे निःशब्द के लिए इंगित हों। वाणी सार्थक है यदि वह मौन में ले जाएं। और जीवन सार्थक है यदि वह व्यक्ति को उस महामृत्यु के लिए तैयार करता है जो कि प्रभु का द्वार है।

164. विजय के लिए युद्ध से गुजरना आवश्यक है। लेकिन अधिकतम लोग युद्ध के पूर्व ही विजय चाहते हैं। मेरे देखे ऐसे लोगों के अतिरिक्त और कोई भी अंततः नहीं हारता है।

165. मित्र, भय न खाओ। क्योंकि जिससे तुम भयभीत हुए, उससे ही तुम्हारा साथ हो जाएंगा। जिससे भय खाया, वही तुम्हारा पीछा करेगा। और जिससे जिस मात्रा में भय है, उसी मात्रा में उससे पराजय भी है।

166. मैं एक घर में अतिथि था। उस घर के बच्चे दौड़ की प्रतियोगिता में भाग लेने जाते थे। उन्होंने मुझसे पूछाः "दौड़ में जीतने का राज क्या है?" मैंने कहाः "धैर्य?" और पुनः उनसे कहाः "जीवन की दौड़ में भी इसे स्मरण रखना। जीवन विजय के लिए धैर्य से बड़ी और कोई शक्ति नहीं है।"

167. एक दिन खेत के पास से हम निकलते थे। किसान बीज बो रहे थे और गीत गा रहे थे। उनका गीत गाना मुझे बहुत ही अच्छा लगा। मेरे साथ एक उदास व्यक्ति भी था। वे संन्यासी होना चाहते थे। उनसे मैंने कहाः "देखें। खेत में बीज बोते और गीत गाते किसानों को देखें। जीवन भी ऐसा ही खेत है और जो उसमें सत्य और प्रेम और त्याग के बीज बोना चाहते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि बीज रोते हुए नहीं बोए जाते हैं। उस भांति सत्य नहीं, प्रेम नहीं, रुदन ही बोया जाता है। और फिर फसल भी आनंद की नहीं, आंसुओं की ही काटनी पड़ती है। बीज बोने का सूत्र है गाते हुए बोना, क्योंकि हम जो बोते हैं वहीं नहीं, वरन जिस चित्त-दशा में बोते हैं, वह भी उन बीजों में प्रविष्ट हो जाता है। उदास चित्त से जो संन्यास फलित होता है, वह अंत में दुख हो जाता है। वास्तविक संन्यास का जन्म तो आनंद में और आशा में होता है।

168. जीवन है अभी, और यहीं, और आज। कल तो है बहुत दूर। अनंत दूरी पर है कल। इसीलिए तो वह कभी भी नहीं आ पाता है। क्या उचित न होगा कि हम आज ही जीएं? वस्तुतः तो जो जीता है वह सदा आज ही जीता है। जीवन है आज और कल है मृत्यु। जीना है तो आज जीओ। हां, सिर्फ मरना ही है तो कल भी काम दे सकता है!

169. निश्चय ही कठिन है स्वयं को जीतना। किंतु स्वयं के अतिरिक्त और कुछ जीतना तो असंभव ही है। और यह भी स्मरण रहे कि जो स्वयं को जीत लेता है, वह अनायास ही शेष सबको भी जीत लेता है। इसलिए मैं कहता हूं कि जीवन में एक ही हार है और एक ही जीत है। हार भी स्वयं पर और स्वयं से है और जीत भी स्वयं पर और स्वयं से है।

170. एक मित्र ने मुझसे कहाः "क्या अच्छा न होगा कि हम दुनिया को बदल डालें?" मैंने कहाः "बहुत अच्छा होगा, लेकिन दुनिया है कहां? मैं तो उसे बहुत खोजता हूं और पाता नहीं। खोजता हूं दुनिया को और पाता हूं, स्वयं को। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि दुनिया को छोड़ो। मैं स्वयं को बदल डालूं और आप अपने को तो दुनिया जरूर बदल जाएंगी। क्योंकि, मेरे और आपके अंतर-संबंधों के अतिरिक्त वह और क्या है?"

171. एक स्वप्न मैंने देखा है। शायद अंतिम निर्णय का दिन आ गया था। और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी कब्र से उठा कर उसके जीवन के संबंध में पूछा जा रहा था। परमात्मा स्वयं ही यह पूछताछ कर रहा था। मेरे पास में ही मेरे एक परिचित पंडित खड़े थे। वे बहुत निश्चित थे क्योंकि उन्हें तो वेद, पुराण, आगम, निगम सभी कंठस्थ थे। उन्हें आशा थी कि वे कैसी भी धर्म परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं। लेकिन जैसे जैसे परमात्मा निकट आ रहा था, उनकी शांति खंडित होती जा रही थी। अंततः वे बैचेन हो उठे और रोकर मुझसे बोलेः "यह कैसा अंधेर हो रहा है? शास्त्रों के संबंध में तो कुछ पूछा ही नहीं जा रहा है। बस, जीवन के ही संबंध में सारी पूछताछ हो रही है और आप तो भलीभांति जानते ही हैं कि मैं क्या उत्तर दूंगा? क्योंकि, मैंने तो शास्त्रों के अतिरिक्त और कुछ जाना ही नहीं है। मैंने तो सारा जीवन उन्हें ही जानने में गवां दिया है।"

172. क्या निश्चय ही हम उन सुखों से नहीं थक जाते हैं जो हम भोगते हैं? और जिस सुख से हम थक जाते हैं क्या वह दुख नहीं हो जाता है? लेकिन, क्या कभी कोई मनुष्य उन सुखों से भी थकते देखा गया है जो वह दूसरों को देता है? नहींŸ-नहींŸ, आज तक तो ऐसा कभी नहीं हुआ है। और तब मैं आपको एक रहस्य की बात बताता हूं, जो सुख हम दूसरों को देते हैं और जिससे हम कभी थकते नहीं, वही सुख आनंद बन जाता है और आनंद का कोई अंत नहीं है... आनंद अनंत है। आनंद नित्य है। आनंद अमृत है।

173. एक पुत्र ने अपने पिता से पूछा थाः "मैं इतना बड़ा कब हो सकूंगा कि जो मैं चाहूं सदा उसे कर सकूं?"

पिता ने कहाः "मेरे प्यारे बेटे, मैं नहीं जानता हूं। वस्तुतः इतना बड़ा होते आज तक कोई भी नहीं देखा गया है।"

मैं भी वहां मौजूद था। मैंने कहाः "मैं एक रहस्य जानता हूं। इतना बड़ा होना तो संभव नहीं है कि तुम जो चाहो, उसे सदा ही कर सको। और वह इसलिए संभव नहीं है कि यह चाह वस्तुतः छोटे होने से पैदा होती है। लेकिन यह संभव है कि तुम जो भी करो उसे चाह जरूर सको। और यही प्रौढ़ता है। यही बड़ा होना है?"

174. मनुष्य के जीवन में इतना दुख क्यों है?

क्योंकि, उसके जीवन में विचारों का शोरगुल तो बहुत है, लेकिन निर्विचार का मौन बिल्कुल नहीं है।

क्योंकि, उसके जीवन में भावनाओं का क्षोभ तो बहुत है, लेकिन निर्भाव की समता बिल्कुल नहीं है।

क्योंकि, उसके जीवन में दिशाओं की दौड़ तो बहुत है, लेकिन अदिशा में ठहराव बिल्कुल नहीं है।

क्योंकि, उसके जीवन में क्रियाओं का तो बाजार है लेकिन अक्रिया का एकांत बिल्कुल नहीं है।

और अंततः क्योंकि, उसके जीवन में वह स्वयं तो अतिशय है, लेकिन परमात्मा बिल्कुल नहीं है।

175. एक मित्र जीवन के इस तट से विदा हो गय हैं। और जल्दी ही। आयु उनकी छोटी ही थी, पर जीवन था बहुत शुभ, सुंदर, शांत और संगीतपूर्ण। किसी ने कहाः "कैसी अशुभ बात है, इतनी कम उम्र में मृत्यु?" मैंने कहाः "नहीं। ऐसा न कहें। हो सकता है लंबी आयु शुभ न हो, लेकिन जो जीवन शुभ है, वह तो निश्चय ही गहरा भी है, लंबा भी है और बड़ा भी है। हां, यह हो सकता है कि पल और घड़ियों में उसे मापना संभव न हो सके। लेकिन इससे तो केवल हमारे मापने की सीमा और असमर्थता के अतिरिक्त और कुछ भी सिद्ध नहीं होता है।"

176. एक कब्र के पत्थर पर लिखा हुआ है:- "एक ऐसा व्यक्ति यहां सोता है जिसने कि उन महान कार्यों के, जिन्हें कि वह करने के सपने देखता था, और उन छोटे कामों के बीच में जिन्हें कि वह करने से घृणा करता था, कभी कुछ भी नहीं किया।" यह लिखा तो है एक ही कब्र पर, पर लिखा जाना चाहिए अधिकांश कब्रों पर।

क्या यही अधिक लोगों के जीवन की कुछ जमा कथा नहीं है? और एक अत्यंत निजी बात भी मैं आपसे पूछना चाहता हूं: "क्या आप भी अपनी कब्र पर ऐसा ही पत्थर तो नहीं लगवाना चाहते हैं?"

177. मैं एक ऐसे आदमी को जानता था जिसने अपने जीवन में कभी कोई भूल ही नहीं की थी। मैंने उससे पूछा कि इसका रहस्य क्या है? वह अत्यंत गंभीरता से बोलाः "इस भय से कि कहीं कोई भूल न हो जावे, मैंने कभी कुछ किया ही नहीं और ऐसे मैं किसी भी भांति की भूल करने से बच गया हूं।" यह सुन मैं जोर से हंसने लगा था तो उसने पूछा थाः "आप क्यों हंसते हैं?" मैंने कहा थाः "इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है कि भूल हो जाने के भय से कोई कुछ करे ही नहीं। भूल से भयभीत होना जीवित होने ही से भयभीत होना है। भूलें करने को तो सदा तैयार रहना चाहिए। इतना ही बहुत है कि एक ही भूल दुबारा न हो। जो पुरानी भूलें छोड़ता है और नई करने से भयभीत नहीं होता, वही जीता है और वही सीखता है। और वही जीतता भी है।"

178. जीवन गहरे सागरों में ले जाता है, डुबाने को नहीं, वरन पवित्र करने को। लेकिन जो डूबने की अपनी कल्पना से भयभीत हो उठते हैं, वे व्यर्थ ही डूब जाते हैं। जीवन सागर की गहराइयों में आज तक किसे डुबाया है? मैं तो केवल उन्हें ही डूबते देखता हूं जो कि भय के तट पर ही बैठे रह जाते हैं!

179. ज्ञान कहता हैः मैं कहा हूं? मैं तो शून्य हूं। और इस शून्य में ही वह ब्रह्म हो जाता है।

अज्ञान कहता हैः मैं हूं सब कुछ? मैं ब्रह्म हूं। और इस ब्रह्म होने में ही वह शून्य रह जाता है।

ज्ञान जो पाता है, अज्ञान उसे पाने के भ्रम में होता है।

ज्ञान जो जानता है, अज्ञान उसे मान लेता है।

अज्ञान जिसकी घोषणा करता है, वही वह नहीं होता है।

180. प्रेम से सृष्टि जन्मी है। प्रेम से ही वह पोषित है। प्रेम की ओर ही वह प्रगतिशील है। और अंततः प्रेम में ही वह प्रविष्ट हो जाती है। और तुम पूछते हो कि मैं प्रेम को परमात्मा क्यों कहता हूं? इसलिए ही कहता हूं। इसलिए ही कहता हूं।

181. जीवन में सबसे बड़ा गुण पूछते हो? तो वह हैः साहस। क्योंकि, साहस के बिना स्वतंत्रता नहीं, स्वतंत्रता के बिना सत्य नहीं और सत्य के बिना सदाचार नहीं। वस्तुतः साहस जीवन के भवन के लिए वही करता है जो की किसी भी भवन के लिए नींव के पत्थर करते हैं।

182. क्या तुमने अच्छे आदमियों को कभी मरते देखा है या कि बुरे आदमियों को कभी जीते? अच्छे आदमी उसी भांति कभी नहीं मरते जिस भांति कि बुरे आदमी कभी नहीं जीते हैं।

183. मेरे मित्र, हो सकता है कि तुम गुलाब के फूल न बन सको, लेकिन इस कारण कांटे बन जाना तो आवश्यक नहीं है? और हो सकता है कि तुम आकाश के चमकते हुए सितारे न बन सको, लेकिन इस कारण क्या सितारों को ढंक लेने वाली काली बदली बन जाना जरूरी है? और अंत में मैं कहना चाहता हूं एक रहस्य की बात कि जो कांटा नहीं बनता वह फूल बन जाता है और बादल नहीं बनता वह चमकता हुआ सितारा बन जाता है।

184. यह तो मेरे हाथ में नहीं है कि कैसे मरूं। यह चुनाव मेरे लिए नहीं है। लेकिन मैं कैसे जीऊं यह तो निश्चय ही मेरे निर्णय में है। और मृत्यु तो है जीवन की ही पूर्णता। इसीलिए जीवन जीने की विधि चुन कर मैं मृत्यु के ढंग को भी चुन लेता हूं। और इसलिए ही मृत्यु बन जाती है पूरे जीवन की सूचक। जीवन में जो बोया जाता है, मृत्यु में उसके ही फूल तो अपनी पूर्णता में खिल जाते हैं।

185. एक मित्र बीमार थे। उनके लिए कोई बगीचे से तोड़ कर बहुत से फूल लाया था। फूल देकर जब वह वापस लौटता था तो मैंने पाया कि दिए गए फूलों की सुवास उसके हाथों में भी ठहरी रह गई थी। फिर तो यह अनुभव बार बार आया। फिर तो यह अनुभव जीवन ही बन गया। जो हम देते हैं, उसकी सुंगध या दुर्गंध सदा ही पीछे हमारे साथ रह जाती थी। इसीलिए ही तो जो सुंगध में जीना चाहते हैं, वे सदैव सुंगध ही देते हैं।

186. एक स्वप्न में मैंने अपने कुछ मृत परिचितों को देखा, वे वेही वस्त्र पहने हुए थे, जो कि मरते समय पहने थे और वे उन्हीं पक्षपातों और विचारों से घिरे थे, जो कि मरते समय उनके मन के वासी थे। जीवन में सब कुछ बदल गया था। लेकिन वे जरा भी नहीं बदले थे। यह मैंने उनसे कहा भी। लेकिन वे जरा भी नहीं बदले थे। यह मैंने उनसे कहा भी। लेकिन वे सब हंसने लगे और बोलेः "हम मृतक कभी नहीं बदलते हैंः हम अपने विश्वासों में सदा दृढ़ रहते हैं। मृत लोक में बदलाहट जैसी चीज होती ही नहीं हैं। हमारे सिद्धांत सनातन हैं। परविर्तन का रोग तो बस जीवन में ही होता है।" मैंने कहाः "लेकिन जीवन में भी कुछ लोग तो ऐसे हैं जो कि कभी बदलते ही नहीं हैं। उनके सिद्धांत भी सनातन हैं और वे भी परिवर्तन के प्रति आंखें बंद रखते हैं ताकि कहीं उन्हें बदलाहट की बीमारी न हो जाएं। क्या ऐसे ही कुछ लोग यहां भी नहीं हैं जो कि बदलते हों?" उन सभी मृतकों ने एक साथ कहाः "नहींŸ, नहींŸ, नहीं। ऐसा यहां कैसे हो सकता है। क्योंकि यहां सभी मृत हैं और कोई भी यहां जीवित नहीं है। हां, जीवन में ऐसा हो सकता है क्योंकि वहां बहुत से लोग मरने के पहले ही मर जाते हैं।"

187. जीवन को कल के केंद्र पर निर्मित मत करना। क्योंकि जीवन तो है आज। आज में ही सारे कल छिपे हैं और जो आज को खो देता है वह उन्हें भी खो देता है। क्या आज के बीज में ही सारे कलों के सारे फूल नहीं सोए हुए हैं?

188. क्या कहा कि जीवन दुख है? नहीं, मित्र, जीवन तो वही है जो हम उसे बना लेते हैं। जीवन तुम्हें आनंद नहीं बनेगा जब तक कि तुम उसे आनंद न बना लो। जीवन तो बस एक अवसर है। वह तो एक रिक्तता है। उसे तो हम अपने जीने सेŸ ही भरते और पूर्ण करते हैं। मनुष्य को जीवन मिला हुआ नहीं है। वह तो रोज रोज जीता है, और उसे निर्मित करता है। जीवन आत्मसृजन है। और इसलिए मनुष्य किसी और के प्रति नहीं, बस स्वयं के प्रति ही उत्तरदायी है।

189. मैंने तुम्हारी पूजा देखो और तुम्हारी प्रार्थनाएं सुनीं। अब तुम कहते हो कि मैं कुछ कहूं। मैं क्या कहं? बस इतना ही कहता हूंः "प्रार्थना में यही कहीं ज्यादा उचित है कि हृदय हो और शब्द न हो बजाए इसके कि शब्द हो और हृदय न हो लेकिन होता इससे उलटा ही है। और इसलिए ही तो प्रार्थनाएं प्रेम नहीं बन पाती हैं और पूजाएं निष्प्राण रह जाती हैं। फिर इन निष्प्राण पूजाओं से परमात्मा कैसे मिले? और इन प्रेम-शून्य प्रार्थनाओं से उसके द्वार कैसे खुलें? परमात्मा पत्थर होता तो निष्प्राण प्रार्थनाएं और पूजाएं जरूर उस तक पहुंच जाती लेकिन पत्थरों में भला परमात्मा हो, पर परमात्मा पत्थर नहीं है, इसलिए जो प्रेम और प्राण से उसके निकट पहुंचते हैं केवल वे ही उसके निकट पहुंच पाते हैं।"

190. क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारा जीवन नरक हो जाएं? तो एक बहुत आसान और अचूक उपाय है-- मैं बताता हूं। यह विधि बिल्कुल रामबाण और हजारों लोगों की हजार हजार वर्षों से आजमाई हुई है। इसमें भूल या विफलता की कोई भी संभावना नहीं है। यह हमेशा शत प्रतिशत ठीक सिद्ध हुई ही। यह विधि क्या है? यह है "मैं" के केंद्र पर जीवन को निर्मित करना। अहंकार दुख में जाने का एकदम सीधा और सरल उपाय है। जो इसे छोड़ कर दुख में जाने का प्रयास करते हैं, वे सदैव ही असफल हो जाते हैं। इसके बिना दुख में कोई जा ही

नहीं सकता है। क्योंकि, यह स्वयं ही दुख है। इसके मार्गदर्शन के बिना कोई नरक में भी नहीं जा सकता है। क्योंकि, यह स्वयं ही नरक है।

191. सत्य को पाना कठिन है, क्योंकि उसे खोजना और जीना होता है, लेकिन शास्त्र को मानना आसान है, क्योंकि उसे तो बस मानता ही होता है। पहले के लिए चाहिए आंखों वाला विवेक। जब कि दूसरे के लिए अंधविश्वास ही पर्याप्त है। शास्त्र इसीलिए सत्य के साक्षात में बाधा बन जाते हैं। क्योंकि, जहां अंधविश्वास है, वहां विवेक का जन्म ही नहीं होता है। और यह भी स्मरण रहे कि विश्वासमात्र ही अंधे होते हैं। अंधी आंखें सत्य को कैसे जान सकती हैं? अंधी आंखें यानी चेतना के बंद द्वार। और सत्य तो केवल उसी द्वार पर आता है जहां कि निष्पक्ष चित्त उसका स्वागत करने को तैयार होता है। क्या निष्पक्ष होने की तुम्हारी तैयारी ह? क्या विश्वासों से मुक्त होने का तुम्हारा साहस है? क्या सत्य के स्वागत के लिए तुम्हारे हृदय के द्वार खुले हैं? यदि हां... तो मैं कहता हूं कि फिर सत्य को पाने से सरल और कोई बात नहीं है। क्योंकि वस्तुतःŸ कठिनाई तो सदा है हमारे चित्त में सत्य तो सरल हैं लेकिन हम सरल नहीं हैं। हमारे विश्वासों और हमारी मान्यताओं और हमारी धारणाओं ने सब जटिल कर दियाŸ है। जो इस जटिलता के जालको तोड़ देता है, वह पाता है कि सत्य तो सामने ही खड़ा है। वह तो सदा से ही सामने था। बस, हमारी आंखें ही उसे देखने को स्वतंत्र नहीं थीं।

192. धर्म के लिए मरना बहुत आसान है। लेकिन जीना बहुत कठिन है। असल में मरना किसी भी बात के लिए सदा ही आसान होता है। मरने के लिए चाहिए बस एक भांति की विक्षिप्तता। और फिर मरना एक क्षण में ही हो जाता है। इस एक क्षण का उन्माद ही उसके लिए काफी है। किंतु, जीने के लिए चाहिए जागृति, जागृति इसलिए मैं कहता हूं कि जो धर्म के लिए मरते हैं, वे नहीं, वरन जो उसके लिए जीते हैं, वे ही केवल धर्म को जान पाते हैं।

193. धर्म क्या है? यह जानना चाहते हो तो सबसे पहले धर्मों को भूलना होगा। धर्मों को छोड़े बिना धर्म को कभी भी नहीं जाना जा सकता है।

194. सत्य यदि जीने योग्य प्रतीत न हो तो उसे मानने योग्य मानना भी उचित नहीं है।

195. हम स्वयं ही स्वयं को जितना धोखा देते हैं, उतना और कौन हमें दे सकता है? इस भांति स्वयं के ही हम शत्रु हैं। लेकिन, इससे ही ज्ञात होता है कि हम चाहें तो स्वयं के ही मित्र भी हो सकते हैं। और जीवन में धर्म का प्रारंभ वहीं से है, जहां से स्वयं से मित्रता की शुरुआत है।

196. विश्वास और अविश्वास दोनों ही बंधु हैं। उन दोनों में कोई भी भेद नहीं। उनके शरीर ही भिन्न हैं, आत्मा नहीं, इसलिए जिसे सत्य को खोजना है, उसे उन दोनों से समानतः सावधान होता आवश्यक है। एक कुआं है तो दूसरा खाई। गिरने के लिए तो दोनों ठीक हैं, लेकिन जिसे चलना है, उसके लिए मार्ग मध्य में है। क्योंकि चित्त दोनों से मुक्त होकर ही मुक्त होता है। जो न आस्तिक है, न नास्तिक, न विश्वासी न अविश्वासी, वही और केवल वही सत्य की यात्रा पर निकल सकता है।

197. आप किसलिए जीते हैं? यदि यह मुझे बतादें तो मैं जान जाऊंगा कि आप क्या हैं? आप किस ओर जा रहे हैं, उसमें ही तो आपका होना भी निहित है। जीवन है स्वयं का सतत सृजन। अपने जीवन को बनाने वाले भी हम हैं और बनने वाले भी हम ही हैं। यहां मूर्ति बनाने वाला मूर्तिकार, मूर्ति बनने वाला पत्थर। और मूर्तिको बनाने वाला औजार सभी हमी हैं। इसीलिए तो जीवन से बड़ी और जटिल और कोई कला नहीं है। और इस श्रम और साधना से बचने के लिए ही कुछ लोग तो जीवन से ही वंचित रह जाते हैं। उनका जीवन उन पत्थरों की भांति हो जाता है जो कि परिस्थितियों के प्रवाह और धक्कों में बस कोई भी आकार ग्रहण कर लेते हैं। उनका

जीवन फिर सचेतन मूर्तियां नहीं बन पाता है और यही है जीवन का दुख, यही है पीड़ा, यही है संताप। मैं तो कहता हूं कि यही जीते-जी मृत्यु है।

198. एक मित्र हैं। वर्षों से उन्हें जानता हूं। पहले धन की दौड़ में थे, अब धर्म की दौड़ में हैं। दौड़ वही है, लेकिन पहले वे अपने को गृहस्थ मानते थे, अब संन्यस्त मानते हैं। मैं सुनता हूं तो आश्चर्य होता है:- क्या ईश्वर को पाने की आकांक्षा भी बहुत गहरे में ऐश्वर्य को ही पाने की आकांक्षा नहीं है? लोभ के मार्ग बहुत सूक्ष्म हैं और ईश्वर को पाने की कामना और कल्पना भी क्या लोभ की ही चरम परिणति नहीं है? मनुष्य का लोभ असीम है। वह मोक्ष भी पाना चाहता है। जब कि सत्य यह है कि जब तक चित्त कुछ भी पाना चाहता है तब तक वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि पाने की चाह ही तो मौलिक अमुक्ति है। और जो मुक्त नहीं है, वह परमात्मा को कैसे जानेगा? चित्त की परम मुक्ति में जो जाना जाता है वही तो परमात्मा है।

199. मैं जानता हूं कि तुम आनंद की खोज में हो लेकिन आनंद क्या कभी खोजने से मिलता है? आनंद तो मिलता है उन्हें जो आनंद बांटते हैं--आनंद देते हैं। आनंद चाहते हो तो आनंद बांटो--आनंद दो। चाहो मत दो। क्योंकि देने में ही वह आता है। बांटने में ही वह मिलता है। लुटाने में ही वह स्वयं पर बरसता है। परमात्मा के रास्ते बड़े अनूठे हैं। आनंद के द्वार पर एक भिखारी की भांति नहीं, वरन एक सम्राट की भांति जाओ। क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि भिखारियों के लिए तो खुले द्वार भी बंद हो जाते हैं? और भिखारी कौन है? वह जो मांगता है, भिखारी है। और सम्राट कौन है? वह जो देता है, सम्राट है। इसलिए मैं कहता हूंः दो... दो--दो। अशेष भाव से दो। और तुम पाओगे कि जो तुमने दिया है, वह अनंत गुना होकर वापस लौट आया है। मित्र, सब कुछ वापस लौट आता है। तुम्हारी सारी संपदा तुम्हारे दान की ही प्रतिध्वनि है। क्या तुम्हें स्मरण है कि कभी तुमने कोई ऐसी चीज भी पाई हो, जो कि पाने के पहले तुमने दी नहीं थी?

200. मनुष्य केवल रोटी के बल नहीं जी सकता है। क्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि केवल रोटी पर्याप्त नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह बिना रोटी के जी सकता है। रोटी के बिना तो नहीं जी सकता, लेकिन अकेली रोटी से भी नहीं जी सकता है। रोटी के बिना जीना असंभव है और अकेली रोटी पर या रोटी के लिए ही जीना व्यर्थ है। जैसे पौधों की जड़ें होती हैं, ऐसे ही मनुष्य के लिए रोटी है। जड़ें अपने आपके लिए नहीं हैं। फूलों और फलों के लिए वे हैं। फूल और फल न आवें तो उनका होना निरर्थक है। यद्यपि फूल और फल उनके बिना नहीं आ सकते हैं तब भी फूल और फल उनके लिए नहीं हैं। जीवन में निम्न आवश्यक है। उच्च के लिए, लेकिन उच्च के होने में ही वह सार्थक है। मनुष्य को रोटी की जरूरत है ताकि वह जी सके और जीवन के सत्य और सौंदर्य की भूख को भी तृप्त कर सके। रोटी रोटी से भी बड़ी भूखों के लिए आवश्यक है। लेकिन यदि कोई बड़ी भूख नहीं है तो रोटी व्यर्थ हो जाती है। रोटी रोटी के लिए नहीं है। अपने आप में उसका कोई भी मूल्य और अर्थ नहीं है। उसका अर्थ है उसके अतिक्रमण में। कोई जीवन मूल्य जो कि उसके पार निकल जाता है, उसमें ही उसका अर्थ है।

201. एक वृद्ध साधु से किसी ने पूछा थाः "क्या एसा भी कोई उपदेश है, जिसे कभी भी किसी ने न दिया हो? किसी सदगुरु ने कभी न दी हो क्या ऐसी भी कोई शिक्षा है?"

उस साधु ने कहाः "है, निश्चय ही है। ऐसी शिक्षा है जो कि कभी भी नहीं दी गई है और ऐसे उपदेश हैं जो कि कभी भी नहीं दी गई है और ऐसे उपदेश हैं जो कि कभी भी उच्चरित नहीं हुए हैं।" वह व्यक्ति पूछने लगाः "क्या आप मुझे बता सकते हैं कि वह क्या है?" उस साधु के लिए सिवाय हंसने के और क्या शेष था? फिर भी उसने कहाः "वह कोई वस्तु नहीं है। वह कोई विचार भी नहीं है।"

सत्य का शब्द से उपदेश नहीं हो सकता है और जिसका शब्द से उपदेश हो सके जानना कि वह सत्य नहीं है।

सत्य को जाना तो जा सकता है, लेकिन अभिव्यक्ति। नहीं, अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। क्योंकि, उसे जानने को होना पड़ता है निशब्द, मौन और शून्य। और जिसे शून्य में जाना हो उसे शब्द में कैसे कहा जा सकता है?

202. सत्य मुक्त करता है। लेकिन वही सत्य जो कि स्वयं के प्राणों से ही आविर्भूत होता है। सीखे-सिखाएं सत्य तो और भी बंधनकारी हो जाते हैं, क्योंकि उनसे ज्यादा असत्य ओर कुछ भी नहीं है।

203. आह। देखो गंगा को देखो। पर्वतों से सागर की ओर भागती गंगा ही सम्यक जीवन की प्रतीक है। उसकी पूरी यात्रा में एक ही लक्ष्य हैः सागर से मिलन। वह स्वयं को विराट में खोना चाहती है। वह व्यक्ति से विराट होना चाहती हŸै। सागर-मिलन में ही उसका आनंद है। वहां फिर भेद नहीं है, अकेलापन नहीं है, सीमाओं की क्षुद्रता नहीं है। क्योंकि वहां वह अपनी पूर्णता में है। वह नहीं है, इसलिए ही वह पूर्णता में है। जब तक वह है तब तक अपूर्ण है। मित्र, ऐसे ही बनो। सागर की खोज में सरिता बनो। एक ही लक्ष्य होः सागर। एक ही धुन होः सागर। एक ही गीत होः सागर। और फिर बहे चलो। प्राण जब सागर के लिए आकुल होते हैं तो पैर उसका पथ भी खोज ही लेते हैं। और भलीभांति जानना कि सरिता की सागर की खोज स्वयं को खोने की ही खोज है। क्योंकि उसके अतिरिक्त स्वयं को पाने का और कोई मार्ग नहीं है। और इस एक सूत्र में ही एकमात्र अध्यात्म, धर्म और योग। और यही है एकमात्र सत्य और एकमात्र आनंद जो कि मनुष्य पा सकता है।

204. क्याहम उन मछलियों की भांति ही नहीं हैं जो कि मछुए के जाल में फंस गई हैं और तड़प रही हैं? मुझे तो ऐसा ही दिखाई पड़ता है। लेकिन इससे निराश होने का कोई कारण नहीं है क्योंकि मुझे एक और सत्य भी दिखाई पड़ता है कि हम केवल फंसी हुई मछलियां ही नहीं हैं, वरन जाल भी हमी हैं। और मछुआ भी हमीं हैं। और इसमें ही हमारी मुक्ति का द्वार है। अपने सारे बंधनों और दुखों के सृष्टा हम ही हैं। यह सब हमारे अपने ही चित्त की सृष्टि है। और तब क्या इसमें ही--हमें तथ्य में ही मुक्ति की संभावना के दर्शन नहीं हो जाते हैं?

205. बुद्धि क्या कुछ जानती है? नहीं। नहीं। नहीं बुद्धि तो केवल व्याख्या करती है। बुद्धि है व्याख्याकार। बाहर के जगत में इंद्रियां जानती हैं और बुद्धि व्याख्या करती है। भीतर के जगत में हृदय जानता है और बुद्धि व्याख्या करती है। इसलिए जो उसे ज्ञाता मान लेते हैं, वे भूल में पड़ जाते हैं। बुद्धि से कभी भी कुछ नहीं जाना गया है। वह ज्ञान का मार्ग नहीं है। लेकिन इस भ्रम से कि वह मार्ग है, वह अविरोध अवश्य बन जाती है। और बुद्धिमत्ता क्या है? बुद्धिमत्ता कि बुद्धि अवरोध न बने। जीवन और स्वयं के बीच में बुद्धि खड़ी न हो तो ही वह संवेदनशीलता निर्मित होती है जो कि सत्य के लिए चक्षु बन जाता है।

206. जीवन एक कुंठा है क्योंकि हमने उसे स्वयं में बंद कर रखा है। स्वयं की चारदीवारी से वह मुक्त हो तो वही आनंद बन जाता है। जीवन न तो "मैं" में है न "तू" में। वह तो दोनों के बीच एक प्रवाह है। वह तो समस्त से संवादŸ है। लेकिन हमने उसे समस्त से विवाद बना रखा है इसलिए; दुख है, पीड़ा है, चिंता है, मृत्यु है। यह सब हमारी चेतना का अहंकार के द्वीपों में कैद हो जाने का परिणाम है। उससे जीवन हो गया है। अवरुद्ध, जड़, तरंगरहित और बन गया है, हमारा बंधन, हमारा कारागृह। जैसे एक बीज की खोल के टूटते ही अंकुर जीवंत हो जाता है और आकाश की ओर उठना शुरू कर देता है। वह भूमि के अंधेरे गर्त से निकल कर सूर्य को खोजने लगता है। उसकी वह यात्रा शुरू हो जाती है, जिसके लिए कि वह है। मनुष्य स्वयं में बंद और घिरा मनुष्य अहं की खोज में कैद बीज है। वह खोल बड़ी मजबूत है क्योंकि वह सुरक्षा का आश्वासन देती है। और,

इसलिए हम उसे तोड़ने की बाजए और मजबूत और परिपुष्ट किए चले जाते हैं। और वह जितनी शक्तिशाली हो जाती है, उतना ही भीतर का अंकुर पंगु और निष्प्राण हो जाता है। जीवन को सुरक्षा के भ्रम में ऐसे हम जीवन को ही खोदते हैं। मैंने सुना है कि किसी सम्राट ने आत्म-रक्षा के लिए ऐसा भवन बनवाया था, जिसमें कि एक भी द्वार नहीं था! वह उसमें बंद हो गया था और इस द्वार से वह भीतर गया था, उसे बाद में बंद कर दिया गया था! निश्चय ही फिर उसे कोई शत्रु किसी भांति हानि नहीं पहुंचा सकते थे। वह अपने उस द्वार-रहित भवन में पूर्ण सुररिक्षत हो गया था। लेकिन बंद होते ही उसने जाना था कि यह तो सुरक्षा न हुई, मृत्यु हो गई। वह भवन ही उसकी कब्र बन गया था। ऐसे ही हमारी सुरक्षा की आकांक्षा द्वार-रहित अहंकार को जन्म देती है, और फिर वही हमारी मृत्यु बन जाता है। क्योंकि जीवन सर्व से भेद में नहीं, ऐक्य में है। इसलिए मैं कहता हूं कि जीवन को पाना है, और जीवन की मुक्ति और आनंद से परिचित होना है तो सुरक्षा के पागलपन को छोड़ो, क्योंकि वही उस दुष्टचक्र का आधार है, जो कि अंततः जीवन की रक्षा के नाम पर जीवन को ही छीन लेता है। जीवन असुरक्षा है। असुरक्षा में ही जीवन है। सुरक्षा तो जड़ता है। पूर्ण सुरक्षा का अर्थ मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? असुरक्षित होने के लिए जो तैयार है, वही और केवल वही अहंकार की खोल को तोड़ने में समर्थ होता और केवल उसका ही जीवनांकुर अज्ञात परमात्मा की ओर गतिमय हो पाता है।

207. धर्म का जीवन अव्यावहारिक नहीं है। लेकिन धर्म के सत्य को केवल उस मात्रा में ही जाना जा सकता है जितनी दूर तक कि उसे जीआ जाए। जीए बिना उसे नहीं जाना जा सकता है। जीता ही उसे जानना है। और जो उसे बिना जीए ही जानने के विचार में हैं, उनके लिए वह बिल्कुल अव्यावहारिक प्रतीत होगा क्योंकि ऐसे वे उसे समझने में भी समर्थ नहीं हो सकते हैं। रजनी के अंधकार में जैसे कोई एक छोटा सा दीया लेकर चलता है तो जीतना वह चलता है उतना ही आगे के पथ पर प्रकाश पड़ने लगता है। चलने में ही आगे का पथ प्रशस्त होता है। चलने में ही मानो पथ स्पष्ट होता है। चलने से ही आगे का पथ अंधकार के बाहर आ जाता है। ऐसा ही धर्म पथ भी है। लेकिन यदि कोई दीये को लेकर लिए जाए और सोचे कि इतना छोटा दीया है, इतना थोड़ा सा इसका प्रकाश है, और इतना लंबा रास्ता है और इतनी अंधेरी रात है, तो उसे उस दीये को लेकर उस अंधेरी रात में उस रास्ते को पार कर लेना बिल्कुल ही अव्यावहारिक बात मालूम हो तो इसमें आश्चर्य नहीं है?

208. एक स्वप्न कभी मैंने देखा था। एक पहाड़ी रास्ते पर कोई व्यक्ति फिसल कर गिर पड़ा है। उसके आस-पास भीड़ लगी है। लोग उसकी कमजोरी की निंदा कर रहे हैं और उपहास में हंस रहे हैं। एक उपदेशक उसे ऐसी गिराने वाली कमजोरी छोड़ने की शिक्षा दे रहा है। और एक सुधारक उसे दंडित करने के लिए बातें कर रहा है। उसका कहना है कि ऐसे गिरने वाले यदि दंडित न किए जाएं तो वे दूसरे लोगों को भी गिरने का प्रोत्साहन बन जाते हैं। मैं यह सब देख कर हैरान हूं क्योंकि कोई भी उसे उठाने की कोशिश नहीं कर रहा है। भीड़ को किसी भांति पार कर मैं उसके पास पहुंचता हूं और उसे उठाने की कोशिश करता हूं तो देखता हूं कि वह तो कब का मर चुका है! फिर भीड़ छट जाती है। शायद वे किसी और गिरने वाले के पास इकट्ठे होंगे और देखेंगे। उपदेशक भी चला जाता है। शायद किसी रास्ते पर कोई और गिर पड़ा होगा और उसके उपदेश की प्रतीक्षा करता होगा। और समाज सुधारक भी चला जाता है, शायद कोई कहीं और गिर पड़ा हो, वह उसे दंडित किए जाने और सुधारे जाने की सेवा से नहीं बचना चाहता है। और फिर मैं उस मरे हुए व्यक्ति के पास अकेला ही रह जाता हूं। उसके हाथ पैर इतने कमजोर हैं कि यह विश्वास ही नहीं आता है कि वह कभी चला भी था!

उसका गिरना नहीं, बल्कि उसका चलना ही एक आश्चर्य और चमत्कार मालूम होता है। और फिर इसी आश्चर्य में मेरी नींद खुल जाती है और मैं पाता हूं कि वह स्वप्न ही नहीं था। मनुष्य के समाज का सत्य भी तो यही है।

209. यह कहना अतिशयोक्ति तो नहीं है कि हम स्वयं को भूल गए हैं। हमारा जन्म ही क्या एक विस्मरण नहीं है? और फिर आत्म-विस्मरण को नींव पर खड़ा पूरा जीवन भी क्या हो सकता है? एक स्वप्न ही न? स्वप्न और जागृति में भेद ही क्या है? स्वप्न में स्वप्न का दृष्टा एकदम विस्मृत होता है। उस पर ही स्वप्न है--उसके ही समझ स्वप्न है, लेकिन वह स्वप्न में मौजूद नहीं है। वस्तुतः, तो उसकी अनुपस्थिति ही निद्रा है। क्योंकि उसके अपस्थित होते ही न तो निद्रा है, और न स्वप्न है। फिर हमारे इस तथाकथित जीवन को हम क्या कहें? जागृति तो यह नहीं है क्योंकि स्वयं का हमें स्मरण नहीं है। फिर क्या यह भी एक स्वप्न है? हां, मित्र, यह भी एक स्वप्न ही है। स्वयं के प्रति जब तक मूर्च्छा है, तब तक जीवन एक स्वप्न है।

210. चेतना का जीवन क्या है? चित्त का जीवन चेतना का जीवन नहीं है, चित्त की गति जब शांत होती है, तभी चित्त में उस गति का शुभारंभ होता है जिसे कि मैं चेतना कह रहा हूं। और जब चित्त शून्य होता है तभी वह चेतना पूर्ण उपकरण बन जाता है। चित्त है उपकरण। वह है माध्यम। और जब वह स्वयं की गति में संलग्न हो जाता है तो उपकरण नहीं रह जाता फिर वह अपनी ही व्यस्तता के कारण चेतना का माध्यम नहीं रह जाता है। चेतना के जीवन से परिचित होना है तो चित्त के जीवन को विदा देनी होगी। चित्त का जीवन वैसे ही है जैसे मालिक की अनुपस्थिति में नौकर का ही मालिक बन जाना। फिर ऐसा नौकर कैसे चाहेगा कि मालिक वापिस लौटे? उसके मन में मालिक की वापसी का स्वागत नहीं हो सकता है। वह तो उस वापसी में हर संभव विघ्न खड़े करेगा। और उसका सबमें आधारभूत विघ्न तो यही दावा होगा कि मैं ही मालिक हूं, और अन्य कोई मालिक नहीं है? वह अन्य किसी मालिक के अस्तित्व से ही इनकार करेगा। साधारणतः चित्त यही करता है। वह चेतना के अवतरण में अवरोध बन जाता है। इसलिए, चेतना की ओर चलना है तो चित्त को विश्राम दें। उसे विराम दें। उसे शून्यता दें। उसे रिक्तता दें। अर्थात उसे अव्यस्त करें। क्योंकि, उसकी गति का बंद होना ही चेतना की गति का प्रारंभ होना है। चित्त की मृत्यु ही चेतना का जीवन है।

211. जीवन इतना अर्थहीन क्यों हैं? इतना यांत्रिक और जड़तापूर्ण क्यों है? इतना बेरस और उबाने वाला क्यों है? क्योंकि, हमने आश्चर्य की क्षमता खो दी है। आश्चर्य का बोध ही हमारा विलीन हो गया है। मनुष्य ने आश्चर्य की हत्या कर दी है। उसका तथाकथित ज्ञान ही आश्चर्य की मृत्यु बन गया है। हम इस भ्रम में हैं कि हमने सब कुछ जान लिया है! हम सोचते हैं कि हमारे पास हर रहस्य की व्याख्या है! और स्वभावतः जिसके पास प्रत्येक बात की व्याख्या है, उसके लिए रहस्य कहां--उसके लिए आश्चर्य कहां? ऐसे ज्ञान से भरे चित्त के लिए अज्ञात तो रह ही नहीं जाता है। और जहां अज्ञात नहीं है, वहां आश्चर्य नहीं है और जहां आश्चर्य नहीं है, वहां रहस्य नहीं हैŸ और जहां रहस्य नहीं है, वहां रस नहीं है। और रस ही जीवन है। और रस ही अर्थ है। और रस ही आनंद है। इसलिए मैं कहता हूं ज्ञान को छोड़ो, क्योंकि जो जान लिए गया है, वह इसी कारण हो गया है। मृत ज्ञानमात्र अतीत है। वह अज्ञात की बाधा है। उसे जाने दो ताकि अज्ञात आ सके। और अज्ञात के प्रति जागरण आश्चर्य है। और है परमात्मा का द्वार। परमात्मा सदा अज्ञात है। जो ज्ञात है, वह जगत है। जो अज्ञात है, वह परमात्मा है।

212. फ्योदोर दोस्तोवस्की का एक पात्र कहीं कहता हैः "मैं विश्वास दिलाना चाहता हूं कि मनुष्यता के प्रति मेरा प्रेम रोज बढ़ता जाता है, लेकिन जिन मनुष्यों के साथ में रहता हूं उनके प्रति वह प्रतिदिन कम होता जाता है।" आह। मनुष्यता को प्रेम करना कितना आसान और मनुष्यों को प्रेम करना कितना कठिन है! और,

शायद जो मनुष्यों को जितना कम प्रेम करता है, वह मनुष्यता को उतना ही ज्यादा प्रेम करने लगता है। वह स्वयं में प्रेम की अनुपस्थिति देखने से बचने की बहुत कारगर तरकीब है। वह प्रेम के कर्तव्य से पलायन है और आत्मवंचना है। इसलिए ही तो मनुष्यता से प्रेम करने वाले लोग मनुष्यों के साथ इतने कठोर, निर्दय और क्रूर सिद्ध हुए हैं। मनुष्यता के प्रेम के नाम पर मनुष्यों की हत्या अत्यंत निर्दोष मन से जो की जा सकती है? इसलिए, मित्रो, मैं मनुष्यता से प्रेम करने जैसी थोथी और पोच और हवाई बातें आपसे नहीं कहना चाहता हूं। तथाकथित धर्मों ने उस तरह की बातें काफी कहली हैं। मैं तो आपसे ठोस मनुष्यों से प्रेम करने के लिए कहने आया हूं। मनुष्यता से नहीं, मनुष्यों से प्रेम--उन मनुष्यों से जो कि आपके चारों ओर हैं। मनुष्यता केवल शब्द है--एक संज्ञा है। वह वस्तुतः कहीं भी नहीं है। इसलिए उससे प्रेम आसान है। क्योंकि उससे प्रेम करने में बातों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करना होता है। सवाल तो है ठोस मनुष्यों का। पृथ्वी पर चलते अपने ही जैसे मनुष्यों का। उन्हें प्रेम करना एक तपश्चर्या है। उन्हें प्रेम करना एक साधना है। उन्हें प्रेम करना स्वयं एक आमूल क्रांति से गुजर जाना है। मैं उसी प्रेम के लिए आपको पुकारता हूं। वैसा प्रेम ही धर्म है।

213. क्या हम स्वयं को और अन्यों को सामने में दोहरे मानदंडों का उपयोग करते हैं? एक ईसाई पिता अपने पुत्र से कुछ हिंदुओं के ईसाई बन जाने का सुसमाचार सुना रहा था। उसने अपने बेटे से कहाः "परमात्मा की दया है कि इतने हिंदुओं में सुबुद्धि आई।" उसके बेटे ने कहाः "लेकिन, एक ईसाई के हिंदु बन जाने पर तो आपने यह सुबुद्धि की बात नहीं बातई थी।" उसके पिता ने क्रोध से कहाः "उस उद्दार का नाम भी मेरे सामने मत लो।" निश्चय ही स्वयं के पक्ष से जो जाता है, वह गद्दार है और दूसरे के पक्ष से जो स्वयं के पक्ष में आता है, वह सुबुद्धि को उपलब्ध व्यक्ति है। ऐसे ही दुहरे मानदंड के कारण दूसरे की आंख का पतंगा भी हमें दिखाई पड़ता है? लेकिन, क्या यह उचित है और क्या यह स्वयं के लिए मंगलदायी है? यह मैं आपसे नहीं पूछ रहा हूं। यह तो प्रत्येक को स्वयं से ही पूछना है? धर्म के पथ पर यह प्रत्येक को स्वयं से पूछ लेना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि जिसके मानदंड दोहरे हैं, वह सदा ही स्वयं को परिवर्तित होने से बचा लेता है। दोहरे मानदंडों के कारण वह स्वयं के जीवन तथ्यों को कभी देख ही नहीं पाता है। वह उनसे अपरिचित ही रह जाता है और यह अपरिचय ही स्वयं के परिवर्तन से बचाव बन जाता है। दोहरे मानदंड अधार्मिक चित्त के क्षण हैं। स्वयं को भी मापते समय वैसे ही मापना चाहिए जैसे कि हम किसी और को ही माप रहे हैं। इतनी निष्पक्षता न हो तो व्यक्ति कभी आत्मक्रांति से नहीं गुजर सकता है।

सत्य के नाम पर शब्दों की पूजा हो रही है। और लोग राह के किनारे लगे मील के पत्थरों को ही गंतव्य समझ कर उनके पास निवास कर रहे हैं। मनुष्य का आलस्य ही क्या इस आत्मवंचना के पीछे मूलभूत कारण नहीं है? अन्यथा शब्दों को कौन सत्य मान सकता था और प्रतिमाओं को कौन परमात्मा मान सकता था?

214. मैं सबीज ध्यान को ध्यान नहीं कहता हूं। ध्यान तो निर्बीज ध्यान ही है। क्योंकि वस्तुतः निर्बीजता ही ध्यान है। बीज अर्थात विचार। निर्बीजता अर्थात निर्विचार जहां विचार नहीं है, वहीं ध्यान है। लेकिन विचार तो गहरी निद्रा में भी नहीं होता है। इसलिए निर्विचार मात्र पर्याप्त नहीं है। वह नकार ही है और ध्यान किसी का नकारमात्र ही नहीं है। वह किसी की विधायक उपस्थिति भी है। वह विधायक उपस्थिति है चैतन्य की, होश की, प्रज्ञा की। इसलिए, चेतना ही ध्यान है। और यह पूर्ण चेतना निर्विचार में ही संभव है।

215. आत्मा को जानने का मार्ग क्या है? स्वयं में अनाम को जानना और पहचानना फिर अनात्म को पहचानते पहचानते अंततः आत्म जैसा कुछ भी शेष नहीं रह जाता है और तब ही आत्मा है। वह शून्य ही आत्मा है। क्योंकि शून्य ही पूर्ण है।

216, सद आचार क्या है? निश्चय ही जिस आचार के पीछे कोई वासना है, कोई अभिप्राय है, कोई फलाकांक्षा है, वह सदाचार नहीं है। वैसा कर्म अशुद्ध और अपूर्ण है। अशुद्ध, क्योंकि उसमें स्वयं के अतिरिक्त भी कुछ और मिश्रित है और अपूर्ण क्योंकि इसकी पूर्ति उसके बाहर है। जब कि सदाचार शुद्ध और पूर्ण कर्म है। सदाचार ऐसा कृत्य है जो कि स्वयं में पूरा है, उसके पूरे होने के लिए भविष्य की आवश्यकता नहीं है, सदाचार स्वयं में ही आनंद है। उसका होना मात्र ही उसका आनंद है। आनंद उसमें ही है, उसके बाहर किसी फल या उपलब्धि में नहीं। एक बीहड़ वन में मैंने एक व्यक्ति को बांसुरी बजाते देखा था। उसे सुनने वाला वहां कोई भी न था। मैं वन में राह भटक गया था और उसकी आवाज सुन कर वहां पहुंचा था। मैंने पूछा थाः "यहां इस एकांत में बांसुरी किसलिए बजा रहे हो?" वह बोला थाः "बांसुरी बजाने के लिए ही। वही मेरा आनंद है।" सदाचार स्वतःस्फूर्त कर्म है। सदाचार कर्म को कहता हूं। प्रतिकर्म में बाह्य जगत से उत्प्रेरित कर्म को कहता हूं। प्रतिकर्म अर्थात प्रतिक्रिया। हम प्रतिक्रियाओं को ही कर्म समझने की भूल कर बैठते हैं। जब कि दोनों की क्रियाओं का आविर्भाव भिन्न ही नहीं, विरोधी भी है। बाह्य जगत या वातावरण के आघात से जो क्रिया व्यक्ति के भीतर पैदा होती है, वह प्रतिक्रिया है। और स्वयं से, अंतस में जिसकी स्फुरणा होती है, वह कर्म है। प्रतिकर्म बांधते हैं क्योंकि उनका उदगार बाहर है। कर्म मुक्त करता है क्योंकि वह स्वयं की ही अभिव्यक्ति है। प्रतिकर्म परतंत्रता है। कर्म स्वतंत्रता प्रतिकर्म एक विवशता है कर्म आत्माभिव्यक्ति। प्रतिकर्म सदा पुनरुक्ति है। और कर्म सदा जीवन और जीवंत। प्रतिकर्म में ही जीना असदाचरण है। कर्म में--शुद्ध और पूर्ण कर्म में प्रतिष्ठित होना सदाचरण। प्रतिकर्म में मनुष्य का पतन है क्योंकि प्रतिकर्म यांत्रिक है। और कर्म में मनुष्य का ऊर्ध्व विकास है क्योंकि कर्म चेतना है।

217. नीति धर्म नहीं है। हां, धर्म जरूर नीति है। नीति है एक ढांचा--अनुकरण और अभ्यास के लिए एक नियमावली। वह ऊपर से थोपा हुआ अनुशासन है। इसलिए नैतिक व्यक्ति मुक्त नहीं होता वरन और भी यांत्रिक और परतंत्र हो जाता है। इस भांति उसकी चेतना जाग्रत तो नहीं होती, वरन और प्रसुप्त हो जाती है। अंततः तो वह जड़ आदमी का एक पुंजमात्र ही रह जाता है। अनैतिक व्यक्ति भी आदतों का एक पुंज है और नैतिक व्यक्ति भी। अनैतिक ने माने प्रकृति के आदेश, और नैतिक ने माने समाज के। वे दोनों अपने से बाहर के आदेशों से जीते हैं और इसलिए ही परतंत्र हैं। कर्म स्वयं की खोज है। और जो व्यक्ति स्वयं को पा लेता है, वही केवल स्वतंत्रता भी पा जाता है। स्वतंत्रता हो भी तो तभी सकती है जब स्व का अनुभव हो। स्वयं का होना ही जब ज्ञात नहीं है तब तक स्वतंत्रता कैसे संभव है? और उस स्वानुभव से एक अनुशासन आता है। वह बाह्यारोपित नहीं होता है। वह होता है सहज और स्वस्फूर्त। वह आता है अंतर से। और फिर जो नीति पैदा होती है, वह बात ही और है। वह फिर किसी ढांचे का सायास अनुकरण नहीं है, वरन अंतस की अप्रयास अभिव्यक्ति है। और फिर जो नैतिक जीवन है, वह कुछ पाने के लिए नहीं है, वरन जो पा लिया गया है उसे बांटने के लिए ही है।

218. आंख में पड़ा छोटा सा तिनका भी बड़े से बड़े पर्वत को ओझल कर लेता है। आंख की छोटी सी पलक आंख और जगत के बीच में आ जमी है तो जगत छिप जाता है। दर्शन के लिए--शुद्ध दर्शन के लिए द्रष्टा और दृश्य के बीच कोई अवरोध नहीं होना चाहिए। और अवरोध उतना ही बड़ा हो जाता है जितना कि वह आंख के निकट होता है। आध्यात्मिक जीवन में भी ऐसी ही घटना घटती है। जो चीज द्रष्टा के निकटतम है, वही उसे सत्य के दर्शन से वंचित कर देती है। और द्रष्टा के निकटतम कौन है?" "मैं--"मैं" का भाव ही मेरे निकटतम है और तब वही सत्य के और मेरे बीच बाधा हो तो आश्चर्य क्या है?

219. परमात्मा को जानना है तो परमात्मा के साथ एक हो जाना आवश्यक है। लेकिन यह बात तो विरोधाभासी प्रतीत होती है। क्योंकि जिस परमात्मा को हम जानते ही नहीं हैं, उसके साथ एक कैसे हो सकते हैं? और जिसके साथ एक हो जाएंगे, उसे फिर जानने का सवाल ही कहां उठता है? निश्चय ही इस कथन में विरोधाभास दिखाई पड़ता है, लेकिन इस विरोधाभास को समझ लेना आध्यात्मिक साधना के ठीक सूत्र को जान लेना है। एक चित्रकार सूर्यास्त का चित्र बना रहा था। मैंने उससे पूछाः "सबसे पहले तुम क्या करते हो?" उसने कहाः "जिस दृश्य को चित्रित करना है, सबसे पहले मैं उसमें एक हो जाता हूं।" मैंने पूछाः "यह कैसे संभव है? जैसे सूर्यास्त के साथ एक होना कैसे संभव है?" वह बोलाः "स्वयं को भूलते ही व्यक्ति सर्व के साथ एक हो जाता है।" आह! उसने बिल्कुल ही ठीक बात कह दी थी। परमात्मा अर्थात वह सब जो है। अस्तित्व की समग्रता ही तो परमात्मा है। और उससे एक होने में मेरे "मैं" के अतिरिक्त और कौन सा अवरोध है? मैं जहां नहीं हूं, वहीं वह है। और यही है उसे जानना भी। और यही है उसे जीना भी। क्योंकि, जिसे हमने जीआ ही नहीं, उसे हम जान कैसे सकते हैं? परमात्मा को बाहर से नहीं, भीतर से ही जाना जा सकता है। और इसके लिए उसमें एक हो जाना जरूरी है। उसे जब हम बाहर से देखते हैं तो संसार दिखाई पड़ता है। संसार बाहर से देखा गया परमात्मा ही तो है। और जब हमŸ संसार को भीतर से देखते हैं तो जो दिखाई पड़ता है वही परमात्मा है। सत्य का बाहर से दर्शन संसार है। सत्य का भीतर से दर्शन प्रभु है।

220. सौंदर्य के सृजन के लिए सौंदर्य के साथ एक हो जाना पड़ता है। क्योंकि तभी सौंदर्य जाना जाता है। और उस कलाकार को हम पागल कहेंगे जो कहे कि मैं सौंदर्य को तो नहीं जानता हूं लेकिन सौंदर्य का सृजन करता हूं! लेकिन क्या सदाचार के संबंध में भी यही बात सत्य नहीं है? सत्य को जाने बिना, सत्य से एक हुए बिना, सत्य का आचरण कैसे हो सकता है? चेतना में जिसे जाना जाता है, आचरण कैसे हो सकता है? चेतना में जिसे जाना जाता है, आचरण में उसे ही तो हम चित्रित करते हैं? और सौंदर्य को बिना जाने यदि चित्रकार सुंदर को चित्रित करने के स्वप्न देखने के कारण विक्षिप्त है, तो वह व्यक्ति भी तो विक्षिप्त ही है जो कि सत्य को बिना जाने आचरण में उसे उतार लाने के लिए कटिबद्ध हो गया है? सौंदर्य का सृजन सौंदर्यनुभूति का फल है। सत्य-जीवन सत्यानुभूति का। सत्य-जीवन सत्यानुभूति पाने की सीढ़ी नहीं है। सत्य-जीवन सत्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। सत्य को पाए बिना साधा गया सत्य जीवन की असत्य जीवन ही है। और वह असत्य से भी ज्यादा घातक है क्योंकि वह सत्य का आभास और भ्रम पैदा करता है।

221. क्या ईश्वर है? नहीं, ऐसा प्रश्न उचित नहीं है। क्योंकि, ईश्वर का अर्थ ही क्या हैŸ? ईश्वर का अर्थ है समग्रता। ईश्वर अर्थात समग्रता। समग्र सत्ता ही ईश्वर है। ईश्वर प्रथक तत्व, व्यक्ति या शक्ति नहीं है। "जो है"--वही वह है। होना ही वह है। "ईश्वर है"--ऐसा नहीं। वरन "है" अर्थात "वह"। क्योंकि "ईश्वर है" ऐसा कहने में पुनरुक्ति है। "ईश्वर के अस्तित्व" को पूछना अस्तित्व के ही अस्तित्व को पूछना है। और सबका अस्तित्व है। शेष सबकी सत्ता है। लेकिन ईश्वर की? नहीं, उसकी सत्ता नहीं है। वह तो स्वयं ही सत्ता है। और समग्र को और की भांति कैसे जाना जा सकता है? वह मेरे लिए ज्ञेय नहीं बन सकता है। क्योंकि, मैं भी तो उसमें ही हूं और वही हूं। लेकिन उससे एक हुआ जा सकता है। उसमें डूबा जा सकता है। वस्तुतः हम उससे एक ही हैं और उसमें डूबे ही हुए हैं।" "मैं" को खोकर यह जान जा सकता है। और यह जानना ही उसका जानना है। इसलिए मैं कहता हूं कि प्रेम ही उसका ज्ञान है। प्रेम में ही वह जान जाता है क्योंकि प्रेम में "मैं" मिट जाता है। "मैं" जहां है, वहां वह नहीं है। "मैं" जहां नहीं है, वहीं वह है। सुना है कि एक नमक की पुतली सागर को जानने गई थी। उसने सागर को जान लिया लेकिन फिर वह लौटी नहीं, क्योंकि सागर जानने में ही वह सागर हो गई थी। सागर को जानने

का सागर होने के अतिरिक्त उसके पास और उपाय ही क्या था? परमात्मा को जानने का भी मनुष्य के पास परमात्मा होने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

222. परमात्मा का अकाट्य प्रमाण क्या है? परमात्मा की दिशा में प्रमाण की भाषा ही गलत है। वह विचार, तर्क और प्रमाण का आयाम ही नहीं है। विचार में "मैं" उपस्थित हूं, तर्क में मैं उपस्थित हूं और जहां मैं हूं, वहां वह नहीं है। कबीर ने ठीक ही कहा है कि उसकी गली इतनी संकरी है कि उसमें दो नहीं समा सकते हैं। उस संकरी गली का नाम ही है प्रेम। प्रेम यानी मेरा ऐसा होन जहां कि "मैं" नहीं है। मैं हूं, लेकिन "मैं" नहीं है। ऐसी ही दशा में चेतना से अवरोध हट जाता है और उसका दर्शन उपलब्ध होता है। वह दर्शन ही प्रमाण है। प्रेम का प्रेम में होने के अतिरिक्त और क्या प्रमाण है? परमात्मा का भी परमात्मा में होने के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन अन्य प्रमाण भी दिए गए हैं। और शायद आगे भी दिए जाते रहेंगे। क्योंकि, जो प्रेम में नहीं हो पाते हैं, वे प्रेम के संबंध में विचार करते हैं और जिनके पास आंखें नहीं हैं, वे प्रकाश के संबंध में विचार करते हैं। परमात्मा को देखने वाली आंखें जहां नहीं हैं और परमात्मा को अनुभव करने वाला हृदय जहां नहीं है, वहां परमात्मा पर भी विचार चलता है। फिर चाहे वह विचार पक्ष में हो या विपक्ष में। पक्ष-विपक्ष से भेद नहीं पड़ता है। तथाकथित आस्तिक और नास्तिक दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आंखें दोनों के पास नहीं हैं? और यह आंखों का न होना ही प्रकाश के संबंध में विवाद बन जाता है। और अंधे का प्रकाश को मानना या न मानना दोनों ही अर्थहीन हैं। अर्थपूर्ण तो है स्वयं के अंधेपन को जानना। क्योंकि, उस बोध से ही आंखों की खोज शुरू होती है। प्रकाश को थोड़े ही खोजना है। खोजना तो हैं आंखें। और जहां आंखें हैं वहां प्रकाश है, आंखें न हों तो प्रकाश का क्या प्रमाण है? आंखें न हों तो परमात्मा का भी प्रमाण नहीं है। इसलिए प्रकाश के प्रमाण के लिए न पूछेः जानें कि हमारे पास आंखें नहीं हैं। परमात्मा के प्रमाण के लिए भी न पूछेः जानें कि "जो भी है" वह अज्ञात है और हम उसके प्रति अज्ञान और अंधकार में हैं। प्रकाश तो अज्ञात है लेकिन स्वयं का अंधापन ज्ञात है। परमात्मा अज्ञात है, लेकिन स्वयं का अज्ञान ज्ञात है। परमात्मा अज्ञात है, लेकिन स्वयं का अज्ञान ज्ञात है। अबग अज्ञात के संबंध में विचार करने से क्या होगा? वह तो जो ज्ञात के पार नहीं ले जा सकता है। वह तो जो ज्ञात है, उसी की लीक पर चलता है। वह तो ज्ञात की ही गति है। अज्ञात उससे नहीं जाना जा सकता है। वह तो जो ज्ञात है, उसी की लीक पर चलता है। वह तो ज्ञात की ही गति है। अज्ञात उससे नहीं जाना जात सकता है। अज्ञात तो तभी आता है जब ज्ञात हटता है और उसे मार्ग दे देता है। ज्ञात के हट जाने में ही अज्ञात का आगमन है। ज्ञात के विदा होने में ही अज्ञात का अतिथि चेतना के द्वार पर आता है। विचार में नहीं, वरन जहां विचार नहीं है, वहीं वह आता है। विचार में नहीं, निर्विचार की भूमि में ही उसका अंकुरण होता है। विचार की मृतधारा है हमारा अंधापन। और विचार की व्यस्ता ही है हमारी मूच्छा। इसलिए विचार जहां शून्य है और चेतना सजग, वहीं वे आंखें उपलब्ध हो जाती हैं जो कि उस प्रकाश को देख लेती हैं जिसका कि नाम परमात्मा है? इसलिए सत्य की साधना को मैं प्रकाश के संबंध में विचार नहीं, वरन स्वयं के अंधेपन का उपचार कहता हूं। धर्म आत्मा की आंखों का उपचार है। प्रकाश का अकाट्य प्रमाण क्या है? आंखें। परमात्मा का अकाट्य प्रमाण क्या है? आंखें। जो मैंने स्वयं आंखें पाकर देखा वह यह है कि परमात्मा ही है और कुछ भी नहीं है। और जो मैं अंधेपन में जानता था वह यह था कि परमात्मा ही नहीं है और सब कुछ है।

223. सत्य एक है। इसलिए, सत्ता को द्वैत में तोड़ना सर्वाधिक बद्धमूल अंधविश्वास है। "जो है"--वह एक और अद्वैत है। प्रकृति और परमात्मा, शरीर और आत्मा, जड़ और चेतन--सत्ता में ऐसा द्वैत नहीं है। लेकिन इस द्वैत पर ही जड़वादी और आत्मवादी की सारी भ्रांतियां और अतियां खड़ी हुई हैं। अस्तित्व तो एक है। वह अनेक

नहीं है। उसकी अभिव्यक्तियां अनेक हैं। लेकिन वह अनेकता में भी एक है और खंड-खंड में भी अखंड है। किंतु, विचार भेद को जन्म देता है। क्योंकि, विचार सतह का दर्शन है। वह गहरे नहीं पैठता है। विचार बाहर से दर्शन है। वह भीतर प्रविष्ट नहीं होता है। विचार से विचारक खड़ा हो जाता है। और विचारक स्वयं को शेष से अन्य जानता है। यह पृथकता और अन्यता ही उसे सत्ता में प्रविष्ट नहीं होने देता है। क्योंकि प्रवेश के लिए चाहिए अपृथकता--गहरे पैठने के लिए चाहिए अनन्यता और विचारक स्वयं को खोए बिना अपृथकता और अनन्यता को उपलब्ध नहीं हो सकता है। और विचारक स्वयं को, विचारों को खोए बिना, नहीं खो सकता है। क्योंकि वह विचारों की छाया से ज्यादा नहीं है। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। वह तो विचारों को जोड़ मात्र है। फिर खोना तो दूर--विचारक स्वयं को बचाना चाहता है। यह वह और विचार में पड़ कर ही कर सकता है। और इस भांति सत्य के संबंध में विचार करके वह सत्य से और दूर पड़ता जाता है। सत्य तो है निकट। लेकिन, निर्विचार में। विचार में चित्त उससे दूर निकल जाता है। विचार हो सत्य और स्वयं के बीच वकी दूरी है। निर्विचार साक्षात्कार में न आत्मा है, न शरीर है, न परमात्मा है, न प्रकृति है, वरन "कुछ" है जिसे कि कोई भी नाम देना संभव नहीं है। मैं उसे ही परमात्मा कहता हूं। वह अज्ञात, अनाम और अखंड तत्व ही सत्य है। विचार के कारण वह खंड-खंड दिखता था। निर्विचार में वह अखंड रूप से प्रकट होता है। वही उसका मौलिक स्वरूप है। विचार उसे ही तोड़ कर देखता है। क्योंकि चिचार विश्लेषण है और विश्लेषण बिना तोड़े कुछ भी नहीं देख सकता है। निर्विचार उसे वैसा ही देखता है जैसा कि वह है। क्योंकि निर्विचार निष्क्रिय है। इसलिए वह अपनी ओर से कुछ भी नहीं करता है। वह तो बस निर्दोष दर्पण है और इसलिए "जो है" वह उसमें वैसा ही प्रतिफलित हो जाता है जैसा कि वह है। निर्विचार चेतना के दर्पण में दुई की रेखा भी नहीं बनती है। वह है ही नहीं। वह अज्ञात जीवन तत्व ही शरीर है, वही आत्मा है। वही प्रकृति है, वही परमात्मा है। उस एक संगीत के ही सब स्वर हैं। और सब जीवन है। मृत कुछ भी नहीं है। जड़ कुछ भी नहीं है। और सब कुछ अमृत है। मृत्यु कहीं भी नहीं है। जीवन के सागर पर लहरें उठती हैं, तब भी वे हैं और जब गिर जाती हैं, तब भी वे हैं क्योंकि जब वे उठीं थी तब भी "वे" नहीं थी, सागर ही था और जब "वे" नहीं है, तब भी वे हैं क्योंकि सागर है। व्यक्ति मिटते हैं, क्योंकि व्यक्ति नहीं हैं। आस्तिकताएं मिटती हैं, क्योंकि आस्तिकताएं नहीं हैं। जो नहीं है, वही मिटता है। जो है, वह सदा है। लेकिन यह मेरा मत नहीं है। यह मेरा विचार नहीं है। ऐसा मैं देखता हूं। और कोई भी मतों, पक्षों और विचारों से तटस्थ हो, मौन और शांत हो, शून्य और सजग हो देखें तो वह भी देख सकता है। विचार से देखे जाने पर जगत सत्ता द्वैत है। निर्विचार से देखे जाने पर अद्वैत। विचार-शून्य चेतना ही समाधि है। समाधि सत्य का द्वार है। मित्रो, क्या मैं समाधि में चलने के लिए आप सबको आमंत्रित कर सकता हूं?